मनोरंजन पुस्तकमाला–२९

संपादक

श्यामसुंदरदास बी० ए०

प्रकाशक

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

कर्त्तव्य-शास्त्र ।

(Ethics)

लेखक

गुलाबराय एम० ए०, एल-एल० बी०

१९७६.

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस में मुद्रित ।

मूल्य १) ।)

मनोरंजन पुस्तकमाला।

अब तक निम्नलिखि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

(१) आदर्श जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्ल।
(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।
(४) आदर्श हिंदू १ भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्म्मा।
(५) " २ " " "
(६) " ३ " " "
(७) राणा जंगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा।
(९) जीवन के आनंद—ले० गणपत जानकीराम दूबे बी० ए०।
(१०) भौतिक विज्ञान—ले० संपूर्णानंद बी० एस-सी०, एल-टी०।
(११) लालचीन—लेखक बृजनंदन सहाय।
(१२) कबीरवचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय।
(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र बी० ए०
(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(१५) मितव्यय—लेखक राजचंद्र वर्म्मा।
(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—ले० नंदकुमार देव शर्म्मा।

(१७) वीरमणि—लेखक श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० औ
शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए० ।

(१८) नेपोलियन बोनापार्ट—लेखक राधामोहन गोकुलजी ।

(१९) शासनपद्धति—लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार ।

(२०) हिंदुस्तान, पहला खंड—ले० दयाचंद्र गोयलीय बी० ए०

(२१) " दूसरा खंड— " "

(२२) महर्षि सुकरात—लेखक वेणीप्रसाद ।

(२३) ज्योतिर्विनोद—लेखक संपूर्णानंद बी० एस-सी०, एल-टी

(२४) आत्मशिक्षण—लेखक श्यामबिहारी मिश्र एम० ए
और शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए० ।

(२५) सुंदरसार—संग्रहकर्त्ता हरिनारायण पुरोहित बी० ए०

(२६) जर्मनी का विकास, पहला भाग—ले० सूर्यकुमार वर्म्मा

(२७) " " दूसरा भाग " "

(२८) कृषि-कौमुदी—लेखक दुर्गाप्रसाद सिंह एल० ए-जी०

(२९) कर्त्तव्य-शास्त्र—लेखक गुलाबराय एम० ए०, एल-एल

Printed by G. K. Gurjar
at the Sri Lakshmi Naraya Press. Benares City

शुद्धिपत्र।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
आजमावेंगे	अपनावेंगे	५	१३
Specialism	Specialisation	६.	१२
का	में	२६	१७
Nietze	Nietzsche	५२	१२
प्रेम	प्रेय	९६	५
आत्मानन्द	समतानन्द	११५	१७
निस्तार	विस्तार	१२५	५
की हानि करते हैं	की हानि नहीं करते	१२७	१
मानमन	मान यन	१४२	३

भूमिका।

आजकल हमारे देश में उच्च शिक्षा के होते हुए भी मौलिकता का अभाव है। इस न्यूनता के मुख्यतः दो कारण हैं; एक तो यह कि हमारी शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषा नहीं, और दूसरा यह कि हमारी वर्तमान शिक्षा प्राचीन शिक्षापद्धति से बहुत कम संबंध रखती है, और इस कारण से न तो वह हमारे मानसिक संस्थान से मेल रखती है और न उसमें हमारे लिये विचारसंचालिनी शक्ति ही दिखाई देती है। हमारे मानसिक विकाश को पुराना सूत्र छोड़ कर एक नए सूत्र का अवलंबन करना पड़ता है। इन कारणों पर थोड़ी सी विवेचना कर लेना आवश्यक है।

भाषा और विचारों का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। यह संबंध इतना घनिष्ठ है कि महाकवि कालिदास को शिव और पार्वती जी के योग का वर्णन करते हुए इस वाक् और अर्थ के योग की ही उपमा देनी पड़ी। "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये"। विचार के विकाश में भाषा एक उच्च स्थान पाती है और दोनों का विकाश प्रायः साथ ही साथ होता है। भाषा हमारे विचारों को स्पष्ट करती है और जैसे जैसे भाषा में हमारे विचारों के आवश्यकतानुसार नए नए शब्द बनते जाते हैं, वैसे ही हम को विचार और युक्ति में साहाय्य मिलता रहता है। भाषा द्वारा विचार का दुर्गम स्वरूप सुगम हो जाता है। जैसे बीजगणित द्वारा बड़े बड़े अंकों के स्थान में छोटे छोटे एक एक अक्षर के चिन्ह रखकर बड़े बड़े संकीर्ण और दुष्कर प्रश्न सिद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार भाषा की मानसिक

चिन्हावली से बड़े बड़े पेंचीदा विचारों को हम सहज ही सत्सिद्धांत में परिणत कर सकते हैं। स्थूल चिन्हों से हमारा काम नहीं चल सकता। अंगरेजी भाषा के लेखक स्विफ्ट (Swift) ने एक ऐसे काल्पनिक देश का वर्णन किया है जहां के निवासी भाषा के बदले स्थूल चिन्हों से काम चलाते थे। वे लोग बिसाती की भांति अपनी अपनी गठरी बाँधे फिरा करते थे; जिसमें उनके सब चिन्ह रक्खे रहते थे और उन लोगों को बैठ कर ही बात चीत करनी पड़ती थी। फिर क्या उनके विचार स्थूल बातों से ऊँचे गए होंगे? जब तक विचार भाषा में न रक्खे जाँय तब तक, सच पूछिए तो वे हमारे लिये भी स्पष्ट नहीं होते और जब विचार ही स्पष्ट नहीं तब वे युक्ति-युक्त कैसे बताए जा सकते हैं?

उपर्युक्त आलोचना से भाषा की आवश्यकता तो सिद्ध हो गई, किंतु किसी विशेष भाषा की नहीं। मनुष्य जिस भाषा को अपने समाज में बोलता रहा हो, वही भाषा उसके मानसिक संस्थान के अनुकूल पड़ जाती है। जब तक परभाषा में पूरा पूरा ज्ञान न हो जाय, तब तक उसमें विचार करना दुराग्रह ही है। ऐसे लोग थोड़े ही होते हैं, जिनको अन्य भाषा में पूर्ण गति प्राप्त हो जाती है। खैर, हजार दो हजार मनुष्य अन्य भाषा में विचार कर भी लें, किंतु सारे समाज के लिये ऐसा होना असंभव है, कि वह मातृभाषा को छोड़ कर अन्य भाषा का व्यवहार करने लगे। विचारोत्कर्ष के लिये विचार के प्रचार की आवश्यकता है। वह प्रचार मातृभाषा द्वारा ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक और भी बात है कि जितना समय दूसरी भाषा के सीखने में लगेगा उतने समय में विचारों की बहुत कुछ उन्नति हो सकती है। इसके साथ यह भी कहना

होगा कि केवल हिंदी जाननेवालों का भी वैसा ही मस्तिष्क और भाव-ग्राहकता होती है, जैसी कि अंगरेज़ी जाननेवालों की। बहुत से अंगरेजी जाननेवाले भी पहले निरी हिंदी जाननेवाले होते हैं। क्या हिंदी जाननेवाले को संसार के ज्ञान भांडार से लाभ उठाने का उतना अधिकार नहीं है, जितना कि अन्य भाषा-भाषी को ? ज्ञान के कोष से प्रत्येक मनुष्य को लाभ उठाने का एक सा स्वाभाविक अधिकार है। उस कोष को स्वदेश के चलते हुए खरे सिक्के में बदल कर सर्वसाधारण के अर्थ उपयोगी बना देना परमावश्यक है।

दूसरी बात की विवेचना में केवल इतना ही बतलाना आवश्यक है, कि ज्ञान की उन्नति वृक्ष-वत् होती है। वे ही वृक्ष बढ़ते हैं, जिनकी जड़ें थोड़ी दूर तक ज़मीन में पहुँच जाती हैं। हमारी आधुनिक शिक्षा गुलदस्तः की फूल-पत्तियों की भांति है। ये फूल-पत्तियाँ देखने में चाहे जितनी सुंदर हों, किंतु न तो ये बहुत देर तक ठहर ही सकती हैं और न वृक्ष की तरह बढ़ ही सकती हैं। प्रत्येक सिद्धांत अपना इतिहास रखता है। उसके मूल तंतु समाज में दूर तक फैले होते हैं। यद्यपि सचाई देश की सीमाओं में वेष्टित नहीं है, तथापि जो सिद्धांत जिस देश में जन्म लेते हैं, वे स्थानीय रंग में कुछ न कुछ रंजित हो ही जाते हैं। इस बात को अनुवादक लोग भली भांति जानते हैं कि किसी एक भाषा के भाव दूसरी भाषा में जा कर अपनी मधुरता खो देते हैं। प्रत्येक जाति के विचारों में कुछ न कुछ विशेषता होती है। बहुत काल से हमारे देश के दार्शनिक विचारों की वृद्धि बंद है। हम उन्हें विस्तृत करने का यत्न नहीं करते। जो विचार हमको अँगरेजी-शिक्षा द्वारा मिले हैं, उनका अभी पुराने

विचारों से सहयोग नहीं हुआ है। पुराने वृक्ष में ज्ञान की नई कलमें लगा कर पुराने और नए ज्ञान को एक सजीव क्रिया में मिला देना एक महान् कर्त्तव्य है। जब तक बाहर से आया हुआ ज्ञान पुराने आधार पर न रक्खा जायगा, तब तक उसके जीवित रहने की संभावना नहीं और जब तक पुराने ज्ञान पर मनन न होता रहेगा, तब तक उसके बढ़ने और हरे भरे रहने की आशा नहीं। हमको पूरा ज्ञान हरा भरा करके विस्तृत करना चाहिए। पुराने आधार को छोड़ कर हमारा काम न चलेगा। हमारे देश-बांधवों की (विशेष कर अँगरेजी न जाननेवालों की) श्रद्धा प्राचीन ग्रंथों पर से हट नहीं गई है। बाहर से प्राप्त सिद्धांतों की अपेक्षा देशीय सिद्धांत उन लोगों की समझ में शीघ्र आ जाते हैं। प्राचीन विद्या का इतना ह्रास हो जाने पर भी अभी पुराणों के उदाहरण, बाइबिल और यूनानी धर्म-ग्रंथों के उदाहरणों की अपेक्षा समझ में जल्दी चढ़ जाते हैं। होमर के नाम से वाल्मीकि का नाम अधिकतर श्रुति-सुष्ठु है। शेक्सपियर सार्वजनिक होने पर भी भारतवासियों के हृदय में कालिदास का स्थान नहीं पा सकता। प्लेटो और अरस्तू की अपेक्षा कपिल, कणाद और व्यास के नाम हमको अधिक सुपरिचित मालूम होते हैं। फिर वे ही सिद्धांत जो कि यूरोपीय ग्रंथों में प्रतिपादित हैं देशी महात्माओं की वाणी द्वारा भारत-वासियों के हृदय-पटल पर क्यों न अंकित किए जाँय? 'खग जानै खग ही की भाषा' इस वाक्य में बहुत कुछ सचाई है। इस सचाई से लाभ उठाना चाहिए। इसे हठधर्म वा पक्षपात की संज्ञा न देनी चाहिए। स्वदेशी विचारों को समुन्नत करने में केवल हमारा ही भला नहीं है, वरन् संसार भर का

लाभ है। इस उन्नति में संसार के ज्ञान में एक प्रकार का वैविध्य और सौंदर्य प्राप्त हो जायगा।

हिंदी भाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने में सहायता देना और कर्त्तव्य-संबंधी प्राचीन सिद्धांतों को हरा भरा करके उनमें जीवन रस का पुनः संचार कर देना, प्रस्तुत पुस्तक के येही दो मुख्य उद्देश्य हैं। लक्ष्य बहुत ऊँचा है। इसे प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। 'प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिव वामनः' वाली कालिदासोक्ति यदि किसी पर लागू होती है, तो मुझ पर ही; तथापि 'अकरणान्मंदकरणं श्रेयः' की सत्यता और उपयोगिता में मुझे अधिकतर विश्वास है। इसी विश्वास के आधार पर मैं इस ग्रंथ का पाठकों के करकमलों में देने का साहस करता हूँ। आशा है कि पाठकगण इसको पढ़कर आजमावेंगे और इस विषय में गति प्राप्त कर अपनी नई नई युक्तियों द्वारा प्राचीन विद्या का गौरव स्थापित करने में योग देंगे। इसी में मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा। 'क्लेश फलेन पुनर्नवतां विधत्ते'।

प्रस्तुत पुस्तक में नए और पुराने सिद्धांत एक ही ढाँचे में ढाल दिए गए हैं। वह ढाँचा नवीन पद्धति का है। उसमें नई और पुरानी दोनों ही प्रकार की सामग्री डाली गई है। अतएव यह पुस्तक हिंदी जाननेवाले अँगरेजी कालिजों के विद्यार्थियों के भी उपयोग में आ सकती है। अँगरेजी पुस्तकों से इसमें यह एक विशेषता है कि उन पुस्तकों के लेखक भारतवर्ष को भूगोल से उड़ा देते हैं। किसी विषय के पूर्ण ज्ञान होने के लिये यह आवश्यक है कि उस विषय पर सब देशों के सिद्धांत जाने जाँय। भारतीय विद्यार्थियों को भारतीय सिद्धांतों का जानना और भी आवश्यक है। अँगरेजी

पुस्तकों में भारतीय सिद्धांतों के न रक्खे जाने का एक यह कारण बतलाया जाता है कि भारतवर्ष में कर्त्तव्य-संबंधी कोई पुस्तक ही नहीं और न यहां पर इन विचारों ने पूरा पूरा विकाश ही पाया है। यह विचार भ्रममूलक है। यह ठीक है कि संस्कृत या हिंदी में कर्त्तव्यशास्त्र नामक कोई विशेष ग्रंथ नहीं है, किंतु कर्त्तव्यसंबंधी अनेक ग्रंथ हैं और वे ऐसे ग्रंथ हैं, जिनके आधार पर एक अत्युत्तम कर्त्तव्य-शास्त्र बन सकता है। यूरोप के लिये विचारों के उदय का जो काल था, वही भारतवर्ष की अवनति का काल था। उस समय भारत-वर्ष का उन्नति-क्रम रुक गया था। भारतवर्ष के ग्रंथ प्राचीन पद्धति के अनुकूल सब ही विषयों का भांडार बने रहे। विशेषी-करण (Specialism) की उस समय प्रथा न थी। इसका कारण यह था कि, वे किसी एक विषय को अन्य विषयों में पृथक् नहीं समझते थे। उनके विस्तृत धर्म में सब ही विषय आ जाते थे। इसी लिये हमको कर्त्तव्य शास्त्र नामक कोई विशेष ग्रंथ नहीं दिखाई पड़ता है किंतु इससे यह अभिप्राय नहीं कि हमारे देश में इस विषय के विचार ही न थे। प्राचीन यूनान के भी ग्रंथ इसी प्रकार के थे। जब प्लेटो की 'रिपब्लिक' (Republic) नामक पुस्तक, जिसमें शिक्षा, विज्ञान राजनीति और कर्तव्यशास्त्र संबंधी सभी प्रकार के ज्ञानों का समावेश हो जाता है, कर्तव्य संबंधी साहित्य में उच्च स्थान पाती है, तब श्रीमद्भगवद्गीता को इस कोटि में न रखना एक बड़ी भारी भूल है। आज कल के कर्तव्यशास्त्र संबंधी अंगरेजी ग्रंथ जिन ग्रंथों के आधार पर लिखे गए हैं, वैसे ग्रंथों का हमारे यहां अभाव नहीं, केवल थोड़ी सहृदयता की आवश्यकता है। आशा है कि भविष्य में

योरोपीय लेखकगण हमारे ग्रंथों को सहृदय-दृष्टि से देख कर और उनसे यथोचित लाभ उठा कर अपने ज्ञान की पूर्त्ति करेंगे।

अंत में, उन मित्रों को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस ग्रंथ की रचना में मुझे पूर्ण सहायता दी है। 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' यह लोकोक्ति प्रायः सब ही ग्रंथकारों के विषय में, विशेष कर प्रस्तुत पुस्तक में, चरितार्थ होती है। इस ग्रंथ में जिन ग्रंथों की सहायता ली गई है, उन सब के रचयिताओं के प्रति सहृदय कृतज्ञता प्रकाशित करता हुआ इस क्षुद्र पुस्तक को गुणग्राही पाठकों के हस्तकमलों में सौंपता हूँ। आशा है कि सज्जन इस ग्रंथ को अपनाकर मेरा उत्साह बढ़ावेंगे।

मैनपुरी
वै० शु० १ सं० १९७५ } गुलाब राय।

विषय-सूची ।

कर्त्तव्य-शास्त्र।

पहला अध्याय।

कर्त्तव्य-शास्त्र का विषय और उसकी आवश्यकता।

प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में क्षण प्रति क्षण ऐसे अवसर आते हैं, जब कि उसको 'अच्छा' वा 'बुरा' इन दो शब्दों में से किसी एक शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। छड़ी, टोपी, पुस्तक, कलम, औषधि, मकान, वृक्ष, पर्वत, पशु और मनुष्य तथा उसकी क्रियाएँ सब ही के संबंध में 'अच्छा' या 'बुरा' कहा जा सकता है। जब इन दोनों शब्दों में से किसी एक का, मनुष्य के आचार अथवा संकल्प-मूलक क्रियाओं के संबंध में प्रयोग किया जाता है, तब ही कर्त्तव्य-शास्त्र का विषय उपस्थित हो जाता है।

कर्त्तव्य-शास्त्र की व्याख्या।

किंतु, इससे यह न समझना चाहिए, कि कर्त्तव्य-शास्त्र का विषय अच्छे और बुरे कामों की नामावली प्रस्तुत करना ही है। किसी वस्तु अथवा कार्य का अच्छा बुरा होना उसके किसी निर्णायक अथवा आदर्श के अनुकूल वा प्रतिकूल होने

पर निर्भर है। जब कोई मनुष्य यह कहता है, कि उसके हाथ में जी लेखनी है वह अच्छी नहीं, उस समय उसके पास कोई ऐसी सूची नहीं रक्खी रहती, जिसमें संसार भर की कलमों का विवरण दिया हो और जिसे देख कर वह कह सके कि उसकी लेखनी अच्छी और बुरी कलमों की खानापूरी में कहां स्थान पाती है। यदि उससे पूछा जाय, कि अमुक कलम को क्यों बुरा कहा, तो वह तुरंत उत्तर देगा, कि उससे ठीक नहीं लिखा जाता। उसके इस कथन से इस बात का अवश्य अनुमान होता है कि 'ठीक लिखा जाना' कलमों की जाँच का कोई आदर्श है, और जो कलमें इस आदर्श के अनुकूल पड़ती हैं, वे ही अच्छी गिनी जाती हैं।

इस मापक, निर्णायक अथवा आदर्श का हम को तब ही पता लगता है, जब कि हम 'अच्छे बुरे' के साथ 'क्यों' का प्रश्न उठाते हैं। जब कोई कहे कि 'दान देना अच्छा है' और उसी समय हम इस वाक्य के साथ 'क्यों' का प्रश्न खड़ा कर दें, तब हम को ज्ञात हो जावेगा कि दान को अच्छा कहने में कौन से आदर्श की अनुकूलता ढूँढ़ी गई है। यदि वह कहे कि दान देना अच्छा है, क्योंकि शास्त्रों की आज्ञा है, तो हम को समझना चाहिए कि उस मनुष्य के लिये 'शास्त्र विहित होना' कर्तव्य का आदर्श है। वह और भी उत्तर दे सकता है, जैसे दान देने से आत्म-तुष्टि होती है। इस उत्तर से हम को मानना होगा कि उस मनुष्य के लिये 'आत्मतुष्टि' ही कर्त्तव्य का निर्णायक है। इसी प्रकार समाज की स्थिति, अधिकांश लोगों का अधिक सुख, ईश्वर की प्रसन्नता, आत्मवत सब जीवों को देखना, ये दान को अच्छा बतलाने में कारण समझे जा सकते हैं और इन्हीं अथवा ऐसे ही कारणों में से किसी न

किसी को भिन्न भिन्न लोगों ने कर्त्तव्य-शास्त्र का आदर्श माना है। मनुष्य के आचारों अथवा क्रियाओं को अच्छा-बुरा कहने में, जो निर्णायक मापक वा आदर्श उपयुक्त होता है, उसे स्थिर करना ही कर्त्तव्य-शास्त्र का विषय है। जिस शास्त्र द्वारा निःश्रेयस अथवा क्रियायों का अंतिम लक्ष्य निश्चित किया जाय, उसे ही कर्त्तव्य-शास्त्र कहते हैं।

केवल ज्ञान से मनुष्य कर्त्तव्य-परायण नहीं होता है।

इस शास्त्र को पढ़कर आचरणों की परीक्षा की कसौटी मिल जायगी। हम यह जान लेंगे कि हमारे लिये परम श्रेय क्या है? जो हमारे लिये परम श्रेय है, वही हमारे आचरणों में भले बुरे की जाँच का निर्णायक बन सकता है, क्योंकि यह सब ही लोग मानेंगे कि जो हमारा परम श्रेय है, उसी के अनुकूल हमारे सब कार्य होने चाहिएँ। कर्त्तव्य-शास्त्र द्वारा हम को सदसदाचरण परीक्षा में बड़ी सहायता मिल सकती है, किंतु इससे यह न समझा जाय कि कर्त्तव्य-शास्त्र में कुछ ऐसे विशेष नियम मिलेंगे, जो मनुष्य को सदाचारी बना सकें। वह केवल एक ऐसा नियम निश्चित कर देगा, जिसके द्वारा यह जाना जा सके, कि कौन से आचरण सत् कहे जा सकते हैं और कौन से असत्। कर्त्तव्य-शास्त्र न तो लोगों को सदाचारी बनाने का दावा ही करता है और न वह कोई ऐसा शास्त्र है भी जो मनुष्य को सदाचारी बना सके। सदाचारी बनना मनुष्य की इच्छा और संकल्प पर निर्भर है। अंगरेजी भाषा में एक कहावत है, कि घोड़े को पानी तक तो एक ही आदमी ले जा सकता है, किंतु बीस आदमी भी उसे पानी पिला नहीं सकते।

नीति-ग्रंथ मनुष्य को अधिक से अधिक सदाचार का ज्ञान

दिला सकते हैं, पर उसे सदाचारी नहीं बना सकते। दुरात्मा से दुरात्मा पुरुष को भी साधारणतः सदाचार का ज्ञान होता है, किंतु क्या वह इस ज्ञान से ही सदाचारी बन सकता है? इसी तरह पुण्यात्मा पुरुषों को दुराचार का ज्ञान होता है, तो क्या वे बुराई जानने के कारण बुरे कहे जा सकते हैं? भला वही है, जो भला काम करे। प्लेटो ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है, कि न्यायशील मनुष्य को यह जानना परमावश्यक है, कि चोरी किस किस तरह हो सकती है, अतः न्यायशील मनुष्य एक प्रकार का चोर हुआ! इसके उत्तर में यही कहा जावेगा कि जैसे चोर, यह मालूम रहने पर भी कि न्याय क्या है, न्यायशील नहीं कहा जाता है, वैसे ही न्यायशील पुरुष को, चोरी का ज्ञान होने के कारण चोर नहीं ठहरा सकते। जो जैसा करता है, वैसा ही कहा जाता है। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक भी कहा है कि कोई पुरुष अच्छा या बुरा नहीं। जिस समय जैसा काम करे, वैसा ही कहा जायगा। वे कहते हैं, कि सोते हुए चित्रकार को हम यह कहलें कि वह अच्छा चित्रकार है, किंतु सोते हुए मनुष्य को हम अच्छा नहीं कह सकते, जब तक कि हम सोने को सत्कार्य न मान लें। काम करता हुआ मनुष्य ही नैतिक निर्धारणा का विषय बन सकता है। हम इसको एक प्रकार की अतिशयोक्ति ही कह सकते हैं, यद्यपि इसमें इतनी सचाई ज़रूर है कि आचार संबंधी संसार में केवल-ज्ञान से काम नहीं चलता। "यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्"।

इस पर बहुत से लोग ये आपत्तियाँ उठावेंगे कि कर्त्तव्य-शास्त्र के ज्ञान से तो कोई क्रिया-परायण बनता नहीं, और न सब क्रिया-परायण पुरुष कर्त्तव्य-शास्त्र के पंडित ही होते हैं,

फिर इसे पढ़ने व रटने से क्या लाभ ? जब धर्म और नीति के ग्रंथों से हमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्णय करने में सहायता मिल जाती है, फिर एक नए कर्त्तव्य शास्त्र की क्या आवश्यकता है ? तथा कर्त्तव्य पर विचार करते ही कर्त्तव्य में शंकाएँ होने लगती हैं और धर्मच्युत होने की संभावना रहती है, इससे कर्त्तव्य के विषय में विचार उठाना ठीक नहीं। इन तीनों प्रश्नों पर एक एक कर के विवेचना की जायगी।

कर्त्तव्य-शास्त्र की सार्थकता में शंकाएँ।

प्रायः बहुत से ऐसे अवसर भी आते हैं, जब कि बड़े आदमियों को भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्णय में किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ हो धनुर्धारी अर्जुन की भाँति कहना पड़ता है, कि " पृच्छामि त्वां धर्म संमूढ़चेताः। " ऐसे अवसर पर हमको एक ऐसे निर्णायक की आवश्यकता होती है, कि जिसके द्वारा हम किसी आदर्शों अथवा धार्मिक सिद्धांतों के बीच में से एक को निर्धारित कर लें। कर्त्तव्य-शास्त्र ऐसे समय पर हमारी सहायता करता है।

पहली शंका का समाधान।

कभी कभी हमारे सामने ऐसी समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं, जब कि सत्य बोलने से बड़ा भारी अनर्थ, जैसे दूसरों की हानि इत्यादि होना संभव होता है, और सत्य न बोलने से ' सत्यान्नास्ति परो धर्मः ' के विरुद्ध आचरण करना पड़ता है। ऐसे स्थानों में झूठ बोलना या मूक रहना, जो कि एक प्रकार का छिपा हुआ असत्य भाषण ही है, श्रेय माना गया है और 'सत्यान्नास्ति परो धर्मः' इसको उत्सर्ग मान कर हम परोपकार के विषय में अपवाद को स्थान देते हैं। यह बात तब ही ठीक पड़ती है, जब कि हम परोपकार को उच्चतम आदर्श मानते

हैं। एक ओर दया और क्षमा की पाटी पढ़ाई जाती है और दूसरी ओर हम को यह उपदेश दिया जाता है कि समाज की स्थिति और आत्म-रक्षा के निमित्त मारनेवाले पर दया न की जाय। Mercy but murders pardoning those that kill. वह दया घातक है जिसके द्वारा घातक को क्षमा दी जाती है। ऐसे अवसर पर किसी बड़े व्यापक नियम को ढूँढ़ना पड़ता है, जैसे कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' इत्यादि, जिसके आधार पर हम इन दोनों परस्पर विरोधी सिद्धांतों में उत्सर्ग एवं अपवाद का संबंध स्थिर करते हैं, अर्थात् ऐसी स्थिति, पहले उपदेश की व्याप्ति की सीमा के बाहर ठहरा कर दूसरे उपदेश का आश्रय लेते हैं। अथवा दोनों का यथार्थ मूल्य निर्धारित कर दोनों को अपने कर्त्तव्य में यथोचित स्थान देते हैं। यही माध्यमिक श्रेणी का आदर्श श्रेयस्कर होता है।

ऐसे दुबिधा के अवसर न केवल साधारण आदमियों को ही आते हैं, प्रत्युत् महापुरुषों को भी प्राप्त होते रहे हैं। वीरवर अर्जुन को कुरुक्षेत्र के रणांगण में कर्त्तव्य की बड़ी भारी समस्या उपस्थित हुई थी। एक ओर तो 'युद्धाद्धि श्रेयः क्षत्रियस्य न विद्यते' और दूसरी ओर 'कुलक्षय कृतं दोषं मित्र द्रोहं च पातकम्' अर्थात् जैसे, युद्ध क्षत्रिय का परम धर्म है, वैसे ही कुलक्षय करना भी बड़ा भारी दोष और पूज्य गुरु लोगों तथा मित्रों का मारना भी भयंकर पाप है। इन्हीं दोनों परस्पर विरुद्ध बातों में संभ्रम होने से—

"सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव!
न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण ! न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द ! किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

× × × ×

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्, श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थ कामांस्तु गुरूनिहैव, भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥

× × × ×

कार्पण्य दोषोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म संमूढ़-चेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वा प्रपन्नम् ॥

अपने गुरु बंधु बांधवों को रणक्षेत्र में देख कर अर्जुन का मुख सूख जाता है। गात्र शिथिल हो कर तथा शरीर कंपायमान हो कर रोम खड़े हो जाते हैं। वह कहता है कि "स्वजनों को मारने में कल्याण नहीं दिखाई पड़ता है। हे गोविंद ! मैंने ऐसी विजय और ऐसा सुख छोड़ा, जब कि जिनके अर्थ मैं जी रहा हूँ, वेही मेरे हाथ से मारे जायँ ! फिर राज्य तथा भोग और जीवन से क्या लाभ ? महात्मा जनों एवं गुरु लोगों को न मार कर इस लोक में भीख माँग कर पेट पालना भी श्रेयस्कर है, किंतु अपने से बड़े एवं पूज्य लोगों को, चाहे वे अर्थलोलुप भी क्यों न हो रहे हों, मार कर उनके रुधिर से सने हुए भोजन करना मेरे लिये कल्याण-कारक नहीं ! दीनता से मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गई है। मैं अपने धर्म अर्थात् कर्त्तव्य के विषय में मूढ़ हो रहा हूँ। मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। शरणागत हूँ। अतः जिसमें मेरा भला हो, उसे निश्चित करके बतलाइए।"

इसी बड़े प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण भगवान् ने भगवद्गीता ऐसा अमूल्य रत्न अर्जुन को दिया है। बड़े आदमियों का मोह भी बड़े फल का देनेवाला होता है। जब अर्जुन को, 'कर्मण्ये-

वाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ' की शिक्षा दी गई, तब ही उसकी मोह-निवृत्ति हुई।

इसी प्रकार संसार में बहुत से छोटे छोटे अर्जुन वर्तमान हैं, जिनको समय समय पर कर्त्तव्य के विषय में मोह प्राप्त हो जाता है। ऐसे ही समय पर कर्त्तव्य-शास्त्र की सार्थकता प्रतीत होने लगती है। जब स्वास्थ्य में कुछ गड़बड़ी पड़ती है, तब ही वैद्य की आवश्यकता होती है। बहुत से ऐसे लोग हैं जिन्हें वैद्य की आवश्यकता नहीं, और वैद्य के विद्यमान होते हुए भी बहुत से ऐसे लोग हैं, जो उनकी सलाह न लेकर आजन्म रोगी बने रहते हैं। तो क्या इस युक्ति से वैद्यों और चिकित्सा-शास्त्र की निष्फलता सिद्ध होगी? जिनको वैद्यों की ज़रूरत नहीं, उन्हें भी कभी न कभी उनकी शरण में जाना पड़ता है। और जो लोग वैद्यों की अनुमति से लाभ नहीं उठाते, वे भी यदि उनके कहे अनुसार चलें, तो अपने रोग-जनित क्लेश में थोड़ी बहुत कमी कर सकेंगे। यदि वे लोग, जिनका स्वास्थ्य अच्छा है, वैद्यक के सिद्धांतों के अनुकूल अपनी दिनचर्या रक्खेंगे तो वे स्वास्थ्य बिगड़ने की संभावना को कम कर देंगे। यही स्थिति कर्त्तव्य-शास्त्र की है। जो लोग स्वभावतः कर्त्तव्य-परायण हैं, उनको वर्तमान में कर्त्तव्य शास्त्र की आवश्यकता चाहे न भी हो, किंतु जब कभी उनको भविष्य में अर्जुन का सा मोह प्राप्त होगा, तब उन्हें कर्त्तव्या-कर्त्तव्य की कसौटी की आवश्यकता पड़ेहीगी! जो लोग बिना कर्त्तव्य-शास्त्र के जाने सदाचारी हैं, यदि ऐसे लोग भी अपनी क्रियाओं के आदर्श और मूल सिद्धांत को समझ लें, तो इससे उनको अपने सत्कर्म का गौरव और मूल्य विदित हो जायगा। फिर कर्त्तव्य में उनकी श्रद्धा भी दृढ़ हो जायगी, जिससे

वे आगे कभी कर्त्तव्य-च्युत न होंगे। कर्त्तव्य-शास्त्र द्वारा निश्चित क्रियाओं के अंतिम लक्ष्य को, जो लोग जान बूझ कर अपनी क्रियाओं का लक्ष्य बनाते हैं, उनके नियमित जीवन से, उनकी तथा संसार की उन्नति होने की विशेष संभावना है। जो लोग कर्त्तव्य-शास्त्र के ज्ञाता हो कर भी उसके द्वारा निर्धारित नियमों से अपने जीवन को नियमित नहीं बनाते, उनके लिये वे ही दोषी ठहराए जा सकते हैं, कर्त्तव्य-शास्त्र नहीं। जो लोग अपने ज्ञान को अपने जीवन का अंश नहीं बनाते, उनका ज्ञान पूर्ण नहीं समझा जा सकता है। बौद्धमत के एक ग्रंथ में लिखा है कि जो केवल ज्ञान प्राप्त करके सुख की आशा करते हैं, उनकी तुलना उस मनुष्य से की जा सकती है जो बीज खा कर उसके फल का स्वाद चखना चाहता है। पूर्ण ज्ञान वही है जो क्रिया-परिणामी हो। इससे लोगों को चाहिए कि अपने ज्ञान को अपने जीवन का अंश बनावें। अपनी बुद्धि और संकल्प की एकता करें, तब ही उनका ज्ञान सार्थक हो सकता है।

हमारे देश में एक से एक उत्तम धार्मिक एवं नैतिक ग्रंथ वर्तमान हैं। समय समय पर हमको उनकी सहायता भी मिलती रहती है। ऐसे ग्रंथों में अधिकतर विशेष नियम मिलते हैं। कर्त्तव्य-शास्त्र इन विशेष नियमों पर विचार करके ऐसे नियम का अनुसंधान करता है जिसके अंतर्गत ये सब आचार संबंधी नियम आ जावें, और जिस एक सर्वव्यापी सिद्धांत के आधार पर इन सब नियमों को यथार्थ रूप से समझ कर उनका परस्पर संबंध निश्चय किया जा सके। 'क्यों' और 'कहां तक' किसी विशेष नियम का अनुसरण

दूसरी शंका का समाधान।

ना चाहिए और कौन सा नियम किसका अपवाद होना
हिए, ये दोनों बातें तभी ठीक ठीक समझ में आ सकती हैं
। कि इन विशेष नियमों का एक अटल, मूल सिद्धांत
श्चित हो। उदाहरणार्थ, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का नियम
ी व्याप्ति रखता है। इस नियम को दूसरे शब्दों में महात्मा
ू ने अपने मध्य पथ में लगाया है। अरस्तू (Aristotle)
भी यही मत था, कि बीच का मार्ग ही श्रेय है।
नता और अधिकता दोनों ही की अति वर्जनीय हैं, जैसे
गंधुंध आग में कूद पड़ने को कोई शूरता नहीं कहता और
केवाड़ बंद करके घर में बैठने को ही शूरता कहता है।
ली बात जिस प्रकार अधिकता की ओर अति है उसी
ार दूसरी बात न्यूनता की ओर। प्रशंसनीय शूरता इन दोनों
ातियों के बीच की गिनी जाती है। इसी प्रकार उदारता
दि सद्गुणों के विषय में समझ लेना चाहिए। मनुस्मृति
सदसत्परीक्षा के चार परिमाण दिए हैं। महाभारत में भी
ाजनो येन् गतः स पंथाः' आदि कई परिमाण दिए हैं।
भूतहित, लोक-संग्रह आदि निष्काम कर्म ऐसे कई एक
माण धर्म ग्रंथों में माने गए हैं। ये सब परिमाण परस्पर
ोधी नहीं हैं और न इन सब का अभिप्राय पुनरुक्ति मात्र में
कर्त्तव्य-शास्त्र इन नियमों पर विवेचना कर इन नियमों में
ऐसे नियम की खोज करता है, जिसको कर्त्तव्याकर्त्तव्य का
माण मान कर सब संकल्प-मूलक क्रियाओं और तत्संबंधी
मों का निर्णय दिया जा सके। इस परिमाण का लक्षण आगे
कर बताया जायगा। कर्त्तव्य-शास्त्र द्वारा नीति और धर्म
ग्रंथों के मूल तत्त्व समझने की योग्यता बढ़ेगी। अतः
र्त्तव्य-शास्त्र नीति और धर्म-बाधक नहीं प्रत्युत् साधक ही है।

कर्त्तव्य-शास्त्र के पढ़ने से प्रथम कर्त्तव्य-शास्त्र संबंधी नियमों पर विवेचना करने के लिये बहुकाल प्रतिष्ठित नियमों और आचारों पर अवश्य शंका करनी होगी क्योंकि बिना शंका के विवेचना का उदय होना कठिन है। प्लेटो ने कहा है कि (Philosophy begins in doubt) तत्त्व-ज्ञान का आरंभ शंका ही से होता है। यह बात ठीक है कि तत्वज्ञान का उदय शंका में होता है किंतु उसका अंत विश्वास और निश्चित ज्ञान में होता है। शंकाएँ भी कई प्रकार की होती हैं। एक तो शंका आलस्य-मूलक है। जिस बात को हम करना नहीं चाहते उसकी नैतिक योग्यता में शंका उठा देना है सहज! ऐसी कोई अच्छी से अच्छी बात नहीं जिसमें शंका के लिये स्थान न हो। धर्म से मुँह फेरने वाले आलसी इस बात का अधिक सहारा लेते हैं। यदि किसी दीन दुखी की सहायता न करनी हुई, तो कह दिया कि वह अपने पूर्व जन्मों का फल भोग रहा है। हम इसका दुःख कम करके ईश्वरेच्छा सफल होने में बाधा डालें? कर्त्तव्य-पालन से पीछे हटनेवाले लोग ऐसी युक्तियों का आश्रय लेते हैं। जो लोग केवल कर्त्तव्य से बचने के लिये कर्त्तव्य में शंका उठा देते हैं, उनकी शंका सर्वथा गर्हणीय है। कुछ लोगों की शंका केवल विवाद-मूलक है। वे कर्त्तव्य करने न करने में उदासीन रहते हैं, किंतु शंका उठाने में बड़े निपुण होते हैं। उन लोगों की शंका में कोई बुरा भला उद्देश्य नहीं होता, किंतु वे शंका को शंका के ही अर्थ करते हैं। उनका स्वयं मंतव्य कुछ नहीं होता। दूसरों के मत में शंका कर देना ही उनका परम धर्म है। प्राचीन यूनान में ऐसे लोगों को 'सोफिस्ट्स'

तीसरी शंका का समाधान तथा शंका की उपयोगिता।

(Sophists) नाम की एक जाति ही प्रख्यात थी। इस प्रकार की शंका का फल कभी कभी अच्छा हो जाता है, किंतु यह वृथा प्रश्न उठाना किसी रीति से आदरणीय नहीं। तीसरी प्रकार की एक और शंका है, जो श्रद्धामूलक है। यह शंका सच्चे जिज्ञासु की है। सुतरां प्रशस्त भी है। यह शंका केवल शंका करने के अर्थ नहीं उठाई जाती है और न आलस्यवश हो कर्त्तव्य से पराङ्मुख होने के अर्थ, वरन् कर्त्तव्य का सच्चा रहस्य जानने के लिये। इस शंका रूपी खनित्री से यदि कोई पुराने खंडहर गिराए जाते हैं, तो केवल विध्वंस के लिये नहीं, वरन् सदाचार के नवीन भव्य भवन निर्माण करने के लिये। नवीन अवस्थाओं की उपस्थिति पर नए नए कर्त्तव्यों का उदय होता है। फिर उसी के साथ प्राचीन आचार-पद्धति पर शंका होने लगती है। किंतु सच्चे जिज्ञासु की शंका निर्मूल नहीं जाती। उस शंका से पुराने आचारों की नैतिक योग्यता भली भाँति ज्ञात हो जाती है। शंकाग्नि में तप कर प्राचीन-आचार-पद्धति तप्त कांचन की भाँति शुद्ध और द्युति-मती बन जाती है। कर्त्तव्य-शास्त्र संबंधी मौलिक एवं व्यापक नियमों की खोज करनेवालों की शंका जिज्ञासु भाव से होनी चाहिए। इस भाव की शंका न तो कर्त्तव्य से बचने के लिये उठाई जाती है और न केवल कोरे विवाद के लिये, वरन् सत्य रूप से कर्त्तव्य का आचरण करने के अर्थ ऐसी शंका का आविर्भाव होता है। ऐसी शंका को शास्त्र में जिज्ञासा कहते हैं और इसी जिज्ञासा के प्रभाव से हम लोगों को भगवद्गीता और योगवाशिष्ठ सरीखे ग्रंथ-रत्न प्राप्त हुए हैं।

इस विवेचना से न तो पुरानी बातों का खंडन ही किया जाता है और न नई बातों का मंडन ही। पुरानी और नई बातों

पर पूर्ण रीति से विवेचना करके एक स्थिर आदर्श के आलोक में उनका यथेष्ट मूल्य निश्चित करना, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के जिज्ञासु का कार्य होगा। निम्नलिखित श्लोक के अनुकूल आचरण में जो महाकवि कालिदास ने काव्य के विषय में कहा है, कर्त्तव्य का विषय भी घटित होता है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नव मित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः ॥

दूसरा अध्याय।

कर्त्तव्य-शास्त्र का अन्यान्य शास्त्रों से संबंध।

विश्व का बनानेवाला ईश्वर एक है। उसके अनंत ज्ञान में विश्व की एकता है। जैसे मनुष्य के शरीर में कोई अंग ऐसा नहीं है, जिसका शरीर के सभी अंगों से कुछ न कुछ संबंध न हो, वैसे ही संसार में भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसका और पदार्थों के साथ संबंध न हो। इसी प्रकार ज्ञान की एकता में सभी शास्त्रों का समन्वय है। कोई भी एक ऐसा विषय नहीं, जो दूसरे विषयों से कुछ न कुछ संबंध न रखता हो। किसी एक शास्त्र के ज्ञाता बनने के लिये मनुष्य को बहुत से शास्त्रों का थोड़ा बहुत ज्ञान होना परमावश्यक है। वेद का ज्ञाता होने के लिये शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष-शास्त्र के जानने की आवश्यकता मानी गई है। ज्योतिष-शास्त्र बिना गणित शास्त्र के नहीं पढ़ा जा सकता एवं बिना रसायन जाने आयुर्वेद शास्त्र का पढ़ना कठिन है। कृषि विद्या सीखने के लिये भूगर्भ विद्या, रसायन विद्या, वनस्पति शास्त्र, यंत्र विद्या आदि अनेक विद्याओं की आवश्यकता है।

ज्ञान के अंग भी शरीर के अंगों की भांति एक दूसरे पर निर्भर हैं। ऐसा भी कहना अत्युक्त न होगा कि बिना समस्त शरीर के पूर्ण ज्ञान हुए एक अंग का भी पूर्ण ज्ञान असंभव है। इसीसे कोई भी अपने आपको किसी एक शास्त्र किंवा किसी एक विषय का पूर्ण ज्ञाता नहीं कह सकता है। प्रत्येक पदार्थ के ज्ञान में अनंत उन्नति के लिये अवकाश है। जैसे

जैसे विश्वविज्ञान में हम उन्नति करते हैं, जैसे जैसे हमारे पूर्व में जाने हुए पदार्थों का संबंध और शास्त्रों का समन्वय अधिक अधिक हमारी समझ में आता है वैसे ही वैसे इस सिद्धांत को मुक्तकंठ से स्वीकार करते हुए भी यह कहना पड़ता है कि ज्ञान की अनंतता और मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण फिर भी विशेषीकरण की आवश्यकता है। एकीकरण में हम पदार्थों के अनंत प्रकार के संबंधों में से कुछ मोटे मोटे संबंधों और बड़े बड़े सिद्धांतों का ही वर्णन कर सकते हैं। किसी भी विषय के विशेष विवरण के लिये उसे पृथक् करके वर्णन करना आवश्यक है। इस विशेषीकरण (Specialization) के नियम का आज कल बहुत प्रचार है। प्रत्येक विषय एक स्वतंत्र शास्त्र होता जाता है। उन्नति और विकाश के लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है। और मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण जब कि कोई भी सर्वज्ञ नहीं है, हम में से जिसका जिस विषय में विशेष अधिकार हो, वह उसी विषय पर विवरण कर सकता है। अतएव विशेषीकरण अनिवार्य है। विशेषीकरण में सब से बड़ा दोष यह है कि बहुधा लोग एकत्त्व की दृष्टि त्याग कर विशेष विषय को पृथक् और स्वतंत्र समझने लगते हैं। यह बहुत बड़ी भूल है। विशेषीकरण वर्णन की सुगमता तथा मनुष्य की असर्वज्ञता आदि पूर्व प्रदर्शित कारणों के अनुकूल आदरणीय अवश्य है तथापि वास्तव में कोई विषय स्वतंत्र और पृथक् नहीं है। यदि मनुष्य के अँगूठे के विशेष विवरण के लिये हम उसी के विषय में एक पृथक् ग्रंथ लिखें तो कोई हानि नहीं है। उसमें हम उस अँगूठे में जो पदार्थ मिले हुए हैं, विशेष रूप में उनको समझा सकते हैं, परंतु हमको यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि अँगूठा

कोई स्वतंत्र और पृथक् पदार्थ मानने योग्य नहीं है। इस स्वतंत्र रूप से विशेष वर्णन करने के कारण उसे पृथक् कटे हुए अँगूठे की तरह देखना बहुत बड़ी भूल है। ऐसे ही भ्रम वश कोई लोग कर्त्तव्य-शास्त्र को पृथक् शास्त्र कहने लगते हैं। किंतु यदि सुभीते के लिये हम किसी एक विषय के विचार में अन्य विषयों का ध्यान छोड़ दें तो इससे वह विषय अन्य विषयों से निरपेक्ष नहीं हो सकता।

कर्त्तव्य-शास्त्र का, धर्म (Religion), तत्वज्ञान (Metaphysics) और मनोविज्ञान (Psychology) से तो विशेष संबंध है, परंतु और शास्त्रों से भी थोड़ा बहुत मेल है, जिन्हें कोई कर्त्तव्य-शास्त्र का लिखनेवाला अपने ध्यान से नहीं हटा सकता। भिन्न भिन्न शास्त्रों के साथ जो कर्त्तव्य-शास्त्र का संबंध है उस पर क्रमशः विचार किया जायगा।

धर्म का अर्थ धारण करना है, 'धारणाद्धर्म इत्याहुर्मनीषिणः,' जिसे मनुष्य धारण करे, वही धर्म है। किसी मनुष्य के धर्म का पता लग जाने से यह ज्ञात हो जाता है कि वह संसार और अपने जीवन को किस दृष्टि से देखता है, और जिस दृष्टि से वह संसार और अपने जीवन को देखता है उसी के अनुकूल वह अपने आचरणों और व्यवहारों को बनाता है। ज्ञान और कर्म हमारे देश में तथा अन्य देशों में धर्म के अंग माने गए हैं। वेद भी ज्ञान-कांड और कर्म-कांड में विभक्त किए गए हैं। प्रायः सब ही धर्मों ने इस बात के उत्तर देने का प्रयत्न किया है, कि यह संसार कैसा है? इस का मूलाधार कौन है? उससे इस संसार का क्या क्या संबंध है? इन बातों के ज्ञान के अनुकूल ही धार्मिक ग्रंथ संसार में मनुष्य

धर्म और कर्त्तव्य-शास्त्र।

की स्थिति और उसका ईश्वर और मनुष्य के प्रति कर्त्तव्य निश्चित कर देते हैं। धर्म में ज्ञान और कर्म दोनों समन्वित हैं। ज्ञान के विभाग पर विशेष रूप से विचार करना तत्त्वज्ञान (Metaphysics) का विषय हो जाता है, और कर्म के दो विभागों में से ईश्वर के प्रति जो कर्त्तव्य है, वह तो धर्म का मुख्य विषय बन जाता है और जो मनुष्य के प्रति कर्त्तव्य है वह कर्त्तव्य-शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय हो जाता है। इसमें भी इतना भेद है कि धर्मानुकूल जो मनुष्य का मनुष्य के प्रति कर्त्तव्य है, वह भी ईश्वर की आज्ञा पालन करने की इच्छा से होता है और कर्त्तव्य-शास्त्र के अनुकूल मनुष्य के प्रति मनुष्य का कर्त्तव्य तो वही रहता है, किंतु उसमें ईश्वर की आज्ञा पालन करने की दृष्टि प्रधान नहीं रहती। इसके अतिरिक्त कर्त्तव्य-शास्त्र का धर्म से और भी विशेष संबंध है।

ईश्वर और जीव की सत्ता को मानना प्रायः सब ही धर्मों की मूल धारणा है। जिन धर्मों में ईश्वर को नहीं माना है वे धर्म भी कर्त्तव्य का आदर्श प्राप्त करने के अर्थ अपने से ऊँची कोटी की सत्ताओं में विश्वास रखते हैं। यह भी एक प्रकार के ईश्वर में विश्वास है। बिना इस धारणा के माने कर्त्तव्याकर्त्तव्य निष्फल सा मालूम होता है। कुछ लोग कहते हैं कि जब तक कर्त्तव्य-शास्त्र के नियमों को अटल न मानें, तब तक हमारा उनसे बँधना कठिन है। जब कोई नियम अटल नहीं तब उसका मानना न मानना बराबर है। यद्यपि कर्त्तव्याकर्त्तव्य संबंधी विचार, समय समय पर बदलते रहते हैं, तथापि कुछ ऐसे मूल सिद्धांत हैं, जिनको अटल मानना पड़ेगा। ऐसे अटल सिद्धांतों को ईश्वर के ही अटल ज्ञान में स्थान देना पड़ेगा। कुछ तत्त्ववेत्ताओं का यह भी कहना है

कि ईश्वर की सत्ता को माने विना, यह नहीं समझ में आता कि पाशवी-प्रवृत्ति-प्रधान मनुष्यों ने अपने क्षुद्र मन से ऐसे उच्च दैवी आदर्श कहाँ से निकाल लिए? जर्मन तत्त्ववेत्ता कांट (Kant) ने तो शुद्धबुद्धि (Pure reason) से ईश्वर की सत्ता को असिद्ध माना है, किंतु कर्त्तव्य-शास्त्र की आवश्यकताओं को देख कर क्रियात्मक बुद्धि (Practical reason) से ईश्वर की सत्ता मानी है। शुद्ध बुद्धि द्वारा ईश्वर की सत्ता को असिद्ध मानने में हम सहमत नहीं, तथापि हम इस बात का अवश्य मानते हैं कि कांट ने क्रियात्मक बुद्धि द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध कर धर्म और कर्त्तव्य-शास्त्र का घनिष्ठ संबंध दिखा दिया है। जिस प्रकार ईश्वर की सत्ता मानना कर्त्तव्य-शास्त्र को एक प्रकार की पूर्णता दे देता है, उसी प्रकार जीव की सत्ता और अमरत्व माने बिना कर्त्तव्य-शास्त्र निराधार सा प्रतीत होता है। जब जीव ही नहीं, तब कर्त्ता कौन? और कर्त्ता नहीं, तो उत्तरदायित्व ही नहीं? जड़ पदार्थों को कोई दोषी नहीं ठहराता। कर्त्ता होकर यदि वह नाश हो जाय तब तो 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्' का ही मत सिद्ध होता है, कर्त्तव्याकर्त्तव्य कुछ नहीं रहता, सरकारी कानून ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णायक बन जाता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य की कठिनाई को देख कर क्रियात्मक बुद्धि द्वारा ईश्वर की सत्ता की भाँति जीव की सत्ता और अमरत्व को कांट ने माना है। हमारा यह कहना नहीं कि ईश्वर और जीव के माने बिना कोई कर्त्तव्य-परायण हो ही नहीं सकता, किंतु हम यह बात अवश्य मानते हैं कि कर्त्तव्य में जो दृढ़ता ईश्वर और जीव के मानने से प्राप्त होती है, वह बिना माने नहीं आसकती। यही धर्म और कर्त्तव्य-शास्त्र का संबंध है।

तत्त्वज्ञान और कर्त्तव्य-शास्त्र का संबंध।

एक प्रकार से तो तत्त्वज्ञान का और सब शास्त्रों से संबंध है ही, क्योंकि सब शास्त्रों के मूल सिद्धांतों की विवेचना तत्त्व-ज्ञान में की जाती है। किंतु कर्त्तव्य-शास्त्र और तत्त्वज्ञान का घनिष्ठ संबंध है। तत्त्वज्ञान की कल्पनाओं के रद्‌बदल होने से अन्य शास्त्रों में कुछ रद्‌बद्‌ल नहीं होती, किंतु कर्त्तव्य-शास्त्र के नियम तत्त्वज्ञान की कल्पनाओं से इतने स्वाधीन नहीं हैं। उदाहरण लीजिए, गणित शास्त्र का आकाश (Space) से संबंध है। आकाश ही गणित-शास्त्र का विषय है। आकाश की वास्तविक प्रकृति की विवेचना करना तत्त्वज्ञान का काम है। आकाश को सत् माने चाहे कल्पित, चाहें अनादि माने वा सादि किंतु गणित-शास्त्र के नियमों में कुछ भी बाधा न आवेगी; त्रिभुज (Triangle) के तीनों कोण दो सम कोण (Right angles) के बराबर ही रहेंगे, आकाश के सादि होने से घट नहीं जायँगे और न अनादि होने से बढ़ ही जायँगे। किंतु कर्त्तव्य शास्त्र तत्त्वज्ञान की कल्पनाओं से ऐसा उदासीन नहीं। संसार को सुखमय वा दुखमय मानिए, किंतु जीव को प्रकृति का विकार मानने या न मानने अथवा उसे स्वतंत्र वा परतंत्र मानने से कर्त्तव्य-शास्त्र के मूल आदर्श में बड़ा अंतर पड़ जायगा। किसीने कहा है कि यदि तुम मुझे अपने तत्त्वज्ञान संबंधी विचार बतला दो, तो मैं तुमको तुम्हारे कर्त्तव्य संबंधी विचार बता दूँगा। चार्वाक लोग जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं, 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्' की शिक्षा देते हैं, और जहाँ पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की पाटी पढ़ाई जाती है, वहाँ पर नीचे लिखे हुए श्लोक के अनुकूल शिक्षा दी जाती है।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्व भूतेषु चात्मानं ॥—भगवद्गीता ।

अर्थात् जैसे कि सब संसार को ब्रह्मरूप प्रतिपादन किया है उसी के अनुकूल यह कर्त्तव्य बतलाया है कि सब प्राणियों को अपनी आत्मा में देखना और अपनी आत्मा को सब में देखना अथवा सबको एक दृष्टि से देख कर सर्व-हित-चिंतन करना चाहिए ।

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में सात्विक, राजस और तामस त्रिविध ज्ञान के भेद वर्णन कर उन्हीं के अनुसार कर्म के भी त्रिविध भेद दिखाए हैं *। ये भेद इस बात को प्रकाशित करते हैं कि ज्ञान के आदर्श के अनकूल ही कर्त्तव्य का आदर्श बनता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से पाठकों को विदित हो गया होगा कि कर्त्तव्य-शास्त्र को तत्त्वज्ञान से निरपेक्ष नहीं कह सकते।

मनोविज्ञान और कर्त्तव्य-शास्त्र का संबंध ।

कर्त्तव्य-शास्त्र का विषय मनुष्य का आचार है। किंतु मनुष्य के आचार उसकी इच्छा संकल्पादि मानसिक क्रियाओं के फल हैं। कर्त्तव्य-शास्त्र आचारों को बाहर की ओर से नहीं देखता, वरन् भीतर की ओर से देख कर क्रियाओं की प्रेरक मानसिक प्रवृत्तियों की ओर भी ध्यान देता है। मनोविज्ञान इन मानसिक प्रवृत्तियों पर विशेष रूप से विचार करता है। यही कर्त्तव्य-शास्त्र और मनोविज्ञान का संबंध है। किंतु कर्त्तव्य-शास्त्र और मनोविज्ञान की दृष्टि में भेद है। मनोविज्ञान केवल यही बतलाता है कि इच्छा और संकल्प क्या है और इनका पारस्परिक संबंध क्या है? यहाँ मनोविज्ञान का कार्य पूरा हो जाता है। कर्त्तव्य-शास्त्र

* श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८ श्लोक २०—२५ ।

इसके आगे इनके विषय में अच्छे बुरे का प्रश्न उठाता है। तर्क-शास्त्र, सौंदर्य-विज्ञान (Aesthetics) और कर्त्तव्य-शास्त्र तीनों ही मनोविज्ञान से संबंध रखते हैं, किंतु ये तीनों ही वर्तमान से असंतुष्ट रह कर एक आदर्श निश्चित करते हैं। विचार, भावना और संकल्प मन की तीन मुख्य शक्तियाँ मानी गई हैं। इन तीनों शक्तियों के विषय में एक आदर्श स्थिर करने के लिये एक एक शास्त्र का उदय हुआ है। तर्क-शास्त्र (Logic) सत्यासत्य के विषय में विवेचना करके विचार का आदर्श स्थित करता है । सौंदर्य-विज्ञान (Aesthetics) भावना विषयक आदर्श निश्चित करता है। कर्त्तव्य-शास्त्र भले और बुरे पर विवेचना करके संकल्प संबंधी आदर्श निश्चित करता है। ये तीनों शास्त्र मनोविज्ञान से संबंध रखते हैं। किंतु ये सब आदर्श की ओर जाने के कारण औचित्य विज्ञान (Normative Science) में गिने जाते हैं और मनोविज्ञान को शुद्ध विज्ञान (Positive Science) की संज्ञा मिलती है, क्योंकि उसका कार्य शुद्ध वर्णन से है, वर्णन किए हुए पदार्थ की भलाई बुराई से नहीं। कर्त्तव्य-शास्त्र संकल्प के विषय में मनोविज्ञान से बढ़ ज़रूर जाता है, किंतु उससे उदासीन नहीं है।

राजनीति और कर्त्तव्य शास्त्र का संबंध

राजनीति और कर्त्तव्य शास्त्र दोनों ही मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों से संबंध रखते हैं। प्राचीन ग्रंथों में जहाँ पर दोनों ही विषयों का साथ साथ विवरण किया गया है, वहाँ यह संबंध और भी घनिष्ठ दिखाई पड़ता है। प्लेटो (Plato) ने अपने रिपब्लिक (Republic) नामक ग्रंथ में दोनों ही विषयों का मेल कर दिया है। अरस्तू ने कर्त्तव्य-शास्त्र (Nechomacian Ethics) को अपने राजनैतिक

विज्ञान में परिशिष्ट रूप से लिखा है। हमारे यहाँ भी किसी किसी ग्रंथ में (जैसे, विदुर नीति) धर्म और राजनीति को मिला दिया है, और किसी ग्रंथ में (जैसे कणिक नीति) अलग रक्खा है। इसे अलग रखने का यह फल हुआ है कि कुछ लोगों ने दोनों शास्त्रों को एक दूसरे के प्रतिकूल ही मान रक्खा है। कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि राजनीति के अनुसार धोखा देना, झूठ बोलना निंद्य कर्म्मों की गणना में नहीं आते। राजनीति के गूढ़ तत्त्व पर विचार करने से यह बात भली भाँति विदित हो जाएगी कि राजनीति और कर्त्तव्य-शास्त्र में इतना विरोध नहीं। राजनीति का अंतिम लक्ष्य राज्य (जिसमें राजा और प्रजा दोनों ही आ जाते हैं) की स्थिति और उत्तरोत्तर वृद्धि है। धर्म अर्थात् कर्त्तव्य के नियमों के विरुद्ध चल कर यह लक्ष्य कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। इसी लिये विदुर नीति में कहा है।

> धर्मेण राज्यं विंदेत धर्मेण परिपालयेत्।
> धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते॥

अर्थात् धर्म से राज्य प्राप्त करे और धर्म से ही उसकी पालना करे, क्योंकि धर्ममूला संपत्ति प्राप्त होने पर न वह घटती है न नष्ट होती है।

फिर क्या राजनीति और कर्त्तव्य-शास्त्र में कोई भेद ही नहीं? अर्थ-शास्त्र की भाँति राजनैतिक विज्ञान भी मनुष्य को केवल व्यक्ति रूप से देखता है। कर्त्तव्य-शास्त्र भी मनुष्य को व्यक्ति रूप से देखता है, किंतु उसको कोरा व्यक्ति नहीं मानता। कर्त्तव्य-शास्त्र व्यक्ति को समष्टि के संबंध में देखता है। इसी कारण कर्त्तव्य-शास्त्र की दृष्टि विस्तृत मानी जाती है। अर्थ-शास्त्र और राजनैतिक विज्ञान का दृष्टि-कोण संकु-

चित है किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि ये दोनों शास्त्र कर्त्तव्य-शास्त्र के प्रतिकूल समझे जावें। जैसे समष्टि और व्यष्टि के हित में विशेष भेद नहीं, वैसे ही कर्त्तव्य-शास्त्र, जिसका कि संबंध समष्टि से है, अर्थ-शास्त्र और राजनैतिक विज्ञान जिनका व्यष्टि से विशेष संबंध है, एक दूसरे के प्रतिकूल नहीं। अर्थ-शास्त्र उपयोगितावाद पर जाता है, किंतु कर्त्तव्य-शास्त्र उपयोगितावाद के प्रतिकूल नहीं, वरन् उससे ऊँचा है। कर्त्तव्य शास्त्र का लक्ष्य उपयोगितावाद से ऊँचा जाता है, इस कारण वह उपयोगितावाद के प्रतिकूल नहीं। कर्त्तव्य-शास्त्र और राजनैतिक विज्ञान का एक और बात में भेद किया जाता है। राजनैतिक विज्ञान और अर्थ-शास्त्र मनुष्य की क्रियाओं के बाह्य परिणाम की ओर देखते हैं, आंतरिक भाव की ओर नहीं। यह भेद बहुत अंश तक ठीक है, किंतु इससे इन दोनों शास्त्रों की कर्त्तव्य-शास्त्र से प्रतिकूलता सिद्ध नहीं होती। यह दृष्टि का भेद है। जिस कार्य को राजनीति और अर्थ-शास्त्र उसके बाहिरी परिणामों के आधार पर भला या बुरा कहते हैं, उसी कार्य को कर्त्तव्य-शास्त्र लक्ष्य, संकल्पादि कार्य के आंतरिक प्रेरकों की ओर ध्यान देकर भला या बुरा कहता है। कर्त्तव्य-शास्त्र कार्य के बाहिरी परिणामों से बिलकुल उदासीन नहीं, किंतु वह बाहिर के साथ भीतर के भावों पर विशेष ध्यान देता है। क्योंकि उसकी दृष्टि में जड़ को ही पुष्ट कारक जल से सींचना श्रेय है। यदि आंतरिक भाव अच्छा नहीं और बाहिर से काम अच्छा हो, तो वह काम अच्छा नहीं कहा जा सकता। मुँह में राम राम, पेट में कसाई के काम। कोई ऊपरी दृष्टि से सदाचारी और भक्त कहा जाय, किंतु वास्तव में वह ऐसा नहीं। क़ानून के दबाव से

कोई जुआ न खेले, पर वह अपनी तबियत को नहीं बदल सकता। जहाँ क़ानून का दबाव उठा, फौरन ही जुआ खेलने में प्रवृत्त हो जायगा! फिर क्या राजनीति, अर्थ शास्त्र और सरकारी आईन सब वृथा ही हैं? नहीं। बाहर का भीतर पर थोड़ा बहुत अवश्य प्रभाव पड़ता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि बाहरी रोक के कारण लोगों की रुचि बदल जाती है। इसके सिवाय राजनीति, अर्थ-शास्त्र और सरकारी आईन से एक और भी लाभ है, कि इनके द्वारा समाज में सुख और शांति की वह अवस्था स्थापित रहती है, जिसके द्वारा कर्त्तव्य-पालन में कठिनाई नहीं पड़ती। जिस समाज में चोरी और लूट मार हो, न कोई राजा हो और न कोई न्यायकर्त्ता, तो उस समाज में कर्त्तव्य-पालन ही कठिन पड़ जाय और शायद कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भेद जाता रहे, 'जिसकी लाठी, तिसकी भैंस' कर्त्तव्य-शास्त्र का मूल मंत्र बन जाय। राजनीति, अर्थ शास्त्र और राजकीय आईन ये सब कर्त्तव्य शास्त्र के साधक हैं।

इतिहास और कर्त्तव्य शास्त्र का संबंध।

इतिहास भी कर्त्तव्य शास्त्र के सहायकों में से है। इतिहास द्वारा हम को मनुष्यों के भिन्न भिन्न प्रकार के हित और उनकी रुचियों तथा प्रवृत्तियों का पता लग जाता है। कहीं पर हमको अच्छे और बुरे कार्यों के भले बुरे परिणाम का भी परिज्ञान हो जाता है। इतिहास द्वारा हमको विकाश का झुकाव मालूम पड़ जाता है और उसी झुकाव पर विचार कर के मनुष्य की क्रियाओं के अंतिम लक्ष्य का भी हम अनुमान कर लेते हैं। जो है उसके आधार पर यह भी निश्चित किया जाता है, कि क्या होना चाहिए? इतिहास, 'मनुष्य की रुचि और प्रवृत्तियाँ कैसी हैं?' इसके आगे नहीं जाता। कर्त्तव्य-शास्त्र

इतिहास से प्राप्त की हुई सामग्री के आधार पर मनुष्य की रुचि कैसी होनी चाहिए, इस प्रश्न के उत्तर देने का प्रयत्न करता है। कर्त्तव्य-शास्त्र वर्तमान से ऊँचा जाना चाहता है। इसी कारण कर्त्तव्य-शास्त्र को अर्थ शास्त्र, राजनैतिक विज्ञान, इतिहास और भौतिक विज्ञान से पृथक् माना है।

यह बात सब ही लोग मानते हैं, कि मनुष्य के स्वभाव पर जल, वायु तथा अन्य बहिरावेष्टनों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य यदि जड़ जगत के अधीन नहीं, तो उससे स्वतंत्र भी नहीं। भौतिक विज्ञान इस जड़ संसार पर विवेचना करने के कारण कर्त्तव्य-शास्त्र से एक दूर का संबंध रखता है।

भौतिक विज्ञान और कर्त्तव्य-शास्त्र का संबंध।

भौतिक विज्ञान जड़ संसार को मनुष्य के संबंध में नहीं देखता, वरन् जड़ संसार को ही अपनी गवेषणा का अंतिम लक्ष्य बना लेता है। इसलिये भौतिक विज्ञान और कर्त्तव्य-शास्त्र का संबंध और भी दूर का हो जाता है। जीवन-शास्त्र (Biology) नामक भौतिक विज्ञान का अंग कर्त्तव्य-शास्त्र से विशेष संबंध रखता है। किंतु यह भी मनुष्य की आध्यात्मिक श्रेष्ठता की ओर ध्यान न दे कर उसकी पशु, पक्षी और कीट पतंगों के साथ गणना करता है। इन बातों के अतिरिक्त प्राणि-शास्त्र तथा अन्य भौतिक विद्याएँ कर्त्तव्य-शास्त्र से एक और भेद रखती हैं। वह यह है, कि भौतिक विज्ञान का कार्य केवल विवरण करने का है। वह भले बुरे से संबंध नहीं रखता है। भौतिक विज्ञान केवल इतना ही बतलाता है कि अमुक बात इस प्रकार होती है, किंतु कर्त्तव्य-शास्त्र 'होती है' से आगे 'होनी चाहिए' की ओर जाना चाहता है। यह तर्क-शास्त्र की भाँति औचित्य-विज्ञान (Normative Science)

की संज्ञा में आता है। मनोविज्ञान वर्णनात्मक होने से भौतिक विज्ञान से समानता रखता है। शुद्ध और औचित्य-विज्ञान पर विचार करते हुए, इस बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए, कि 'ऐसा होता है' इसे बिना जाने 'ऐसा होना चाहिए' नहीं कहा जा सकता। जीवन-शास्त्र की दृष्टि से मनुष्य अपने पूर्ण गौरव को प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि यह माना जायगा कि जीवन-शास्त्र की कल्पनाओं के आधार पर कर्त्तव्य-शास्त्र में बहुत उन्नति हुई है, तथापि इन दोनों शास्त्रों की दृष्टि एक नहीं हो सकती। जीवन-शास्त्र के अनुसार मनुष्य प्रकृति का ही एक अंग है और जीवन संबंधी प्राकृतिक नियमों से बद्ध है, किंतु कर्त्तव्य-शास्त्र के मत से वह, प्रकृति का अंग होता हुआ तथा उसके नियमों से बँधा हुआ भी प्रकृति से ऊँचा जाने का यत्न करता है। वह प्राकृतिक नियमों से बँधा हुआ है, किंतु वह उनको भली भाँति समझ कर, उनका लक्ष्य जान लेता है और उसके सिद्ध करने में स्वतंत्रतापूर्वक यत्न करता है। यही भौतिकविज्ञान और कर्त्तव्य-शास्त्र का महत्त्व का भेद है।

कर्त्तव्य-शास्त्र का अन्य शास्त्रों से संबंध बतलाने से पाठकों को विदित हो गया होगा कि इस शास्त्र के पढ़ने में अन्यान्य शास्त्रों के जानने की कहाँ तक आवश्यकता है और यह शास्त्र, उनसे विरोध न करता हुआ, उनसे कितना आगे बढ़ता है।

तीसरा अध्याय।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य संबंधी निर्धारणा का विषय।

मनुष्य के आचार कर्त्तव्य-शास्त्र के विषय हैं। इस कार्य-कारण रूपी श्रृंखला से बँधे हुए संसार में कोई वस्तु संबंध रहित नहीं है। मनुष्य के आचार भी एक बड़े तारतम्य में स्थान पाते हैं। इनका उदय मनुष्य के आंतरिक भावों में होता है और इनका प्रभाव दूर दूर तक जाता है। आचार रूपी वृक्ष के मूलतंतु मनुष्य के मानसिक संस्थान में फैले हुए हैं और इसकी शाखाएँ और फल सारे समाज में फैल जाते हैं। आचार वा क्रिया को भला और बुरा उसके बाहरी परिणाम अथवा भीतरी कारणों को देख कर ही कह सकते हैं। किसी काम की भलाई की विवेचना में कौनसी पद्धति उपयुक्त समझी जाय? इस प्रश्न के उत्तर देने के पूर्व क्रिया के आंतरिक कारणों अथवा संचालकों के विषय में विचार कर लेना असंगत न होगा।

मनुष्य की क्रियाओं के आंतरिक कारण।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो हमारी क्रियाओं का मूल हमारे संवेदनों (Perceptions) में मिलेगा। योग-बाशिष्ठ में भी यही माना है—

* संवित्स्पंदो मनःस्पंद ऐंद्रियस्पंद एव च।
एतानि पुरुषार्थस्य रूपाण्येभ्यः फलोदयः॥

---

* प्रकरण २ अध्याय ७। अर्थ—संवित्स्पंद = आत्मा में पुरुषार्थ और उसके साधन की इच्छा होना; मनःस्पंद = पुरुषार्थ साधन की इच्छा का यत्न मन में होना; ऐंद्रिय-

यथा संवेदनं चेतस्तत्तत्स्पंदमृच्छति ।
तथैव कायश्चलति तथैव फलभोक्तृता ॥ प्र. १ स. ७ ॥

सब से पहले हमारे मन में संवेदन प्राप्त होता है। उसके बाद इच्छा और इच्छा के बाद संकल्प। संकल्प क्रिया में परिणत हो जाते हैं। उदाहरणतः कोई सुंदर पदार्थ हमारे सामने आया, उसका संवेदन हमारे मन में हुआ। संवेदन होते ही उसके प्राप्त करने की इच्छा हुई। इस इच्छा के साथ निराशादि कई मानसिक विकार उठ खड़े हुए। इन सब को जीत कर पूर्व कामना ने अपने को बलवती सिद्ध कर संकल्प का रूप धारण किया और फिर वही क्रिया हो गई। वस्तु-प्राप्ति उसका फल हो गया। उस क्रिया का फल यहीं तक नहीं रहता। वस्तु-प्राप्ति के साथही साथ, जो उस कार्य से दूसरों को सुख वा दुःख प्राप्त होता है, वह भी उस क्रिया के फल में ही शामिल है। कर्त्तव्य-शास्त्र के लिये कामनाएँ अथवा वासनाएँ ही क्रियाओं का मूल कारण मानी गई हैं। महात्मा बुद्ध ने भी ऐसा माना है, और इसी से उन्होंने वासना-क्षय का उपदेश दिया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी ऐसा कहा है कि 'काममय एवायं पुरुषः' अर्थात् यह पुरुष कामना से बना हुआ है। आगे लिखा है—

यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते
यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते—४-४-५.

स्पंद = कर्मेंद्रियों की अंगों के संचालनार्थ प्रवृत्ति। ये पुरुषार्थ के रूप हैं और इन्हीं मे फल का उदय होता है। साक्षी चेतन में जैसी विषय की स्फूर्ति होती है, वैसा ही मन होता है और मन के इच्छानुसार इंद्रियों की प्रवृत्ति होती है। इंद्रियों के स्पंद (गति) के अनुकूल शरीर की क्रिया होती है और तदनुसार फल सिद्धि होती है।

मनुस्मृति में भी कामना और संकल्प को ही सब क्रियाओं का मूल माना है। दूसरे अध्याय (मनुस्मृति) में लिखा है, कि 'यद् यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' अर्थात् जो कुछ भी किया जाता है, वह काम अथवा इच्छा ही की चेष्टा से होता है अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के विचार को 'इच्छा' कहते हैं। मान लीजिए, कोई मनुष्य धनहीन है। उसे धन प्राप्त करने का विचार हुआ। वह कहता है, कि हमारे पास धन होता तो अच्छा होता। ऐसे विचार को अभिलाषा (Wish) कहते हैं। जब यह विचार और भी परिणत हो जाता है और क्रियात्मक होने की चेष्टा करता है तब इसे कामना (Desire) कहते हैं। कामना और स्वाभाविक-प्रवृत्तियों (Instinct) में थोड़ा भेद है। स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ बिना विचार के ही क्रिया में परिणत हो जाती हैं, किंतु कामनाएँ, चाहे उनका उदय विचार में न हो, बिना थोड़े बहुत विचार के संकल्प का रूप धारण कर क्रिया में परिणत नहीं होतीं। किसी वस्तु की कामना करते ही बहुत सी मानसिक क्रियाएँ उपस्थित हो जायँगी। कभी कभी ऐसा भी होगा कि प्रतिद्वंदिनी कामनाएँ आ खड़ी हों। उस समय विचार का कार्य आरंभ हो जायगा, विचार होते होते जो सब से बलवती इच्छा होगी, अर्थात् जो इच्छा हमारे स्वभाव के अनुकूल होगी, वह अपनी प्रतिद्वंदिनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर संकल्प (Will) में परिणत हो जायगी। केवल इतना ही नहीं, इच्छा के साथ थोड़ा बहुत सुख दुःख का भी उदय हो जाता है। इच्छा की पूर्ति में जो भावी सुख होता है, उसका विचार भी सुखदायक होता है। यह सुख भी इच्छा को क्रिया की ओर जाने में बड़ी उत्तेजना देता है। बहुत से लोगों ने इसी बात को देख कर यह कह दिया

है कि 'सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः' अर्थात् सब प्राणियों की क्रियाएँ सुख के अर्थ होती हैं। इसी सिद्धांत को लेकर सुख-वादियों का एक स्वतंत्र मत खड़ा हो गया है। इच्छा का उदय हो जाने पर उस सुख की प्राप्ति होती है, न कि उस सुख के कारण इच्छा का उदय। इच्छा का उदय वस्तु के न मिलने के विचार में होता है, न कि उसकी पूर्त्ति से उत्पन्न होनेवाले सुख में। भूखा मनुष्य भोजन की इच्छा करता है, न कि सुख की। विद्यार्थी विद्या की इच्छा करता है, न कि सुख की। धनलोलुप धन के लिये सब कार्यों में प्रवृत्त होता है, न कि सुख के लिये। यह बात सुख-वाद पर विवेचना करते समय और भी स्पष्ट की जायगी।

हमारी नैतिक निर्धारणा का विषय मनुष्य का आंतरिक भाव है अथवा उसकी क्रियाओं का बाहरी परिणाम।

प्रत्येक कार्य किसी न किसी निमित्त वा हेतु से होता है। यही निमित्त, हेतु वा उद्देश्य (Motive) इच्छा का सच्चा संचालक होता है। जब भूख लगती है और भोजन नहीं मिलता है, तब भूख की निवृत्ति के अर्थ भोजन की इच्छा होती है। क्षुधा की निवृत्ति का जो विचार है, वही भोजनेच्छा का संचालक कहा जा सकता है, न कि निवृत्ति-जन्य सुख! निमित्त के ही भले या बुरे होने से इच्छा वा संकल्प को भला बुरा कहते हैं। क्रिया के मूल कारणों पर संक्षेपतः विचार हो चुका। अब इस बात पर प्रश्न उठाया जा सकता है; कि हमारी कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निधारणा का विषय आचारों का बाहरी परिणाम है अथवा आंतरिक कारण? यूरोप के नीति-विशारद पंडितों में एक सम्प्रदाय ऐसा है, जो कार्य के बाहरी परिणाम पर ही उसका धार्मिक मूल निर्धारित करता

हैं। इस संप्रदाय के लोग सुख-प्राप्ति को सब क्रियाओं का अंतिम लक्ष्य मानते हैं। वे कहते हैं, कि जिस काम से अधिकांश लोगों को अधिक सुख पहुँचे वही श्रेय है, कर्त्ता का मानसिक भाव चाहे जो कुछ हो, उससे मतलब नहीं। बाहरी परिणाम अच्छा होना चाहिए। वे लोग बाहरी परिणाम से ही आंतरिक भावों की शुद्धता का अनुमान कर लेते हैं। वे सरकारी न्यायालयों की भाँति बाहरी परिणाम ही को देखते हैं। न्यायालयों में तो कभी कभी बड़े मुकद्दमों में कर्त्ता के आंतरिक भावों पर विचार हो जाता है, किंतु ये लोग इन भावों पर इतना भी ध्यान नहीं देते। इन लोगों के मत में, कार्य चाहे जितनी शुभ कामनाओं के साथ किया जाय, यदि उसका परिणाम बुरा है, तो वह कार्य बुरा ही है और यदि कोई कार्य बुरे उद्देश्य से किया जाय, किंतु यदि उसका फल किसी प्रकार से अधिकांश लोगों को लाभ-दायक हो जावे तो उसे अच्छा ही कहेंगे। यदि कोई ५०००) रु० समाज के लाभ के लिये खर्च कर डाले, तो उस मनुष्य का कार्य अच्छा समझा जायगा। चाहे उसने यह रुपया केवल इस अर्थ व्यय किया हो कि उससे लोगों में उसकी वाह वाह हो जाय और उसके कारण लोग उसके किसी कौंसिल में चुने जाने में बाधा न डालें! जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में दान को सात्विक, राजस, तामस भेदों में विभक्त किया है वैसा भेद सुखवादियों के मत में नहीं है। ये लोग दान देनेवाले के आंतरिक भाव की ओर ध्यान न देकर केवल इसी बात को सोचते हैं कि अमुक दान से लोगों को कितना सुख पहुँचा। इन लोगों के हिसाब से बाइबिल में वर्णित विधवा का दान बहुत ही थोड़ा धार्मिक मूल्य रक्खेगा! महाभारत के अश्वमेध पर्व में लिखी हुई

नकुल की कथा, जिसका भाव यों है, कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ को, जिसमें सहस्त्रों मनुष्यों का दरिद्र दूर किया गया थे, एक नेवले ने एक ब्राह्मण के सत्तू दान की श्लाघा करते हुए कुछ भी न समझा था, इन लोगों की दृष्टि में तुच्छ जँचती होगी। ये लोक कर्त्तव्य में भी प्रत्यक्ष वाद को लगाते हुए पूर्वाख्यान के नकुल की बुद्धि की सराहना न करेंगे।

हमारे देश में किसी कार्य का धार्मिक मूल्य निश्चित करने में मनुष्य की बुद्धि और उसके तात्कालिक मानसिक भावों पर विशेष रूप से विचार किया जाता है। गीता में श्रीकृष्ण ने दान के त्रिगुणात्मक भेद कर दिए हैं। साधारण श्रेणी के लेखकों ने भी इस बात को माना है कि बाहिरी परिणाम से कुछ प्रयोजन नहीं, आंतरिक भावों के आधार पर ही किसी कार्य को भला या बुरा कह सकते हैं। नीति में कहा है।

मनसेव कृतं पापं न शरीरकृतं कृतं।
येनैवालिंगता कांता तेनैवालिंगता सुता ॥

अर्थात् पाप मन से ही किया जाता है, न कि शरीर से। क्योंकि जिस शरीर से स्त्री का आलिंगन किया जाता है, उसी से पुत्री का भी, किंतु दोनों कार्यों (आलिंगनों) के मूल कारण अर्थात् आंतरिक भाव एक से नहीं। मन की श्रेष्ठता बौद्ध धर्म में भी मानी गई है। धम्म पद में लिखा है—

मनो पुंव्वङ्गमा धम्मा मनो सेट्ठा मनो मया।
मनसा च पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ॥
ततो न दुःखनमन्वेति चक्कनु वहतो पदं।

अर्थात्, मन पहले जाता है, अर्थात् उसका व्यापार प्रथम है, उसके बाद धर्म अधर्म का आचरण होता है। इसलिये

मन ही मुख्य और श्रेष्ठ है। सब धर्मों को मनोमय ही समझना चाहिए। कर्त्ता का मन जिस प्रकार शुद्ध या दुष्ट होता है उसी प्रकार उसके वचन और कर्म भी भले या बुरे होते हैं, तथा उसी प्रकार उसे उन कर्मों के फल में सुख या दुःख मिलता है। सर्वत्र मन को ही बंधन और मोक्ष का कारण माना है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः"। भाषा में भी कहा है, कि 'मन चंगा तो कठौती में गंगा।' मन ही को सब क्रियाओं का मूलाधार माना है। उसकी ही शुद्धता पर क्रिया की शुद्धता मानी गई है। बीज अच्छा होगा, तो वृक्ष और फल दोनों ही अच्छे होंगे। इसीलिये कुंती ने युधिष्ठिर को केवल यही आशीर्वादात्मक उपदेश दिया है कि ' मनस्ते महदस्तु। '

यदि कोई मनुष्य किसी भिखारी को एक पैसा देना चाहता है और धोखे में अठन्नी दे देवे तो उसको एक पैसे का ही पुण्य होगा, चाहे भिखारी को आठ आने पाने का सुख हुआ हो! कणिक और कृष्ण दोनों ने ही युद्ध का उपदेश दिया, किंतु दोनों के आंतरिक भाव पृथक् पृथक् थे। इसी कारण एक को बुरा कहते हैं और दूसरे को अच्छा। अच्छा और बुरा भाव पर ही निर्भर है। इन बातों से यह न समझना चाहिए, कि बाहिरी परिणाम के लिये कर्त्तव्य-शास्त्र सदा उदासीन ही रहता है। यदि कोई मनुष्य सदा अपनी शुभ कामनाओं को किसी कमज़ोरी के कारण, सफल करने में असमर्थ रहता हो, तो उसकी शुभ कामनाएँ सराहनीय नहीं समझी जा सकतीं। उसकी असफलता नैतिक निर्धारणा का विषय बन जायगी। हमारे यहां शास्त्रों में यही माना गया है कि जो बात मन में हो, वह वाणी में आवे और जो वाणी में हो वह कर्म में आवे। इसी लिये किसी काम को पूरा तब ही

कहते हैं, जब वह मनसा, वाचा कर्मणा किया जाय। एक अंग की भी कमी रहने से काम पूरा न समझा जायगा।

यह बात तो सिद्ध हो चुकी कि मन ही सब कामों का आधार है। अब यह प्रश्न बाकी रहा कि मानसिक व्यापारों से कौन व्यापार विशेष कर नैतिक निर्धारण का विषय होता है? अर्थात् हम अपनी इच्छा वा संकल्प वा विचार अथवा स्वभाव इनमें से किसे उत्तरदायी ठहरावें ? इस बात का उत्तर देना कर्तव्य-शास्त्र के लिये एक कठिन समस्या है। हम को यह मानना पड़ेगा कि किसी न किसी में ये सब ही मानसिक व्यवहार हमारे कर्तव्याकर्तव्य संबंधी निर्धारण के विषय बन जाते हैं। इन मानसिक व्यापारों का पारस्परिक संबंध बतला देने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

पूरा मनुष्य हमारी नैतिक निर्धारण का विषय बनता है।

साधारण रीति से मनुष्य के आचार कर्तव्याकर्तव्य संबंधी निर्धारण के विषय हैं। किंतु आचारों का मूल कामना में है। इस लिये कामना को भी नैतिक निर्धारण का विषय कहना होगा। कामनाओं पर जो विचार किया जाता है, उस के द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि कौन सी कामना के पूर्ण होने की चेष्टा वा प्रयत्न होना चाहिए। इस निश्चय के साथ संकल्प का उदय होता है। इस लिये विचार और संकल्प दोनों ही आचार के साथ नैतिक निर्धारण का विषय बन जाते हैं। कामना, संकल्प और विचार सब ही स्वभाव के अनुकूल होते हैं। स्वभाव और संकल्प दोनों ही एक दूसरे के आश्रित हैं। जैसा स्वभाव होता है, वैसे ही इच्छा और संकल्प होते हैं। और जैसा संकल्प होता है, वैसा ही स्वभाव

बनता चला जाता है। मनुष्य का स्वभाव, जो कि पिछली कामनाओं और संकल्पों का संचित संस्कार है, अगली कामनाओं और संकल्पों का कारण होता है। ये नए संकल्प पुराने स्वभाव को दृढ़ बनाते जाते हैं और कभी कभी वे स्वभाव को थोड़ा बहुत बदल भी देते हैं। जैसे जैसे स्वभाव दृढ़ होता जाता है, वैसे ही मनुष्य के संकल्प उत्तरोत्तर स्वभावानुकूल होते जाते हैं और मनुष्य की स्वतंत्रता भी कम होती है, किंतु मनुष्य स्वभाव के बनाने में स्वतंत्र है और स्वभाव बन जाने पर परतंत्र हो जाता है।* यह परतंत्रता स्वतंत्र रीति से ही

---

* मनुष्य की स्वतंत्रता पर विचार

जैसे जैसे किसी मनुष्य का स्वभाव दृढ़ बनता जाता है वैसे हीं उस विषय में उसकी स्वतंत्रता घटती जाती है। कार्य्य के स्वाभाविक हो जाने पर मनुष्य का उत्तरदायित्व घट नहीं जाता क्योंकि मनुष्य अपना स्वभाव स्वतंत्रतापूर्वक बनाता है। मनुष्य यदि अपने स्वाभाविक कार्य्यों के लिये उत्तरदायी नहीं किंतु वह अपना स्वभाव बनाने के लिये अवश्य जिम्मेदार है। इसके अतिरिक्त एक और भी बात विचारने योग्य है। किसी कार्य्य के स्वाभाविक बन जाने के कारण उस विषय में मनुष्य की स्वतंत्रता बिलकुल जाती नहीं रहती। मनुष्य अपने स्वाभाविक कार्य्यों को रोक सकता है। यह कार्य्य कठिन अवश्य है किंतु असाध्य नहीं। दृढ़ संकल्प द्वारा हम अपने स्वभाव के प्रतिकूल कार्य्य भी कर सकते हैं।

मनुष्य की स्वतत्रता का प्रश्न हमारे देश में, आवागमन के सिद्धांत के प्रचलित होने के कारण और भी जटिल बन जाता है। इस जन्म के बने हुए स्वभाव से पूर्व जन्म के संस्कार और भी दृढ़ माने गए हैं। बहुत से लोगों ने पूर्व जन्म के संस्कारो का बल इतना बढ़ा दिया है कि वर्तमान जन्म में मनुष्य की स्वतंत्रता का बिलकुल ही नाश कर दिया है। हम यह अवश्य मानते हैं कि पूर्व जन्म कृत कर्मों के संस्कार इस जन्म मे प्राप्त होते हैं और वे इस जन्म के कर्मों पर प्रभाव डालते हैं किंतु वह मनुष्य की स्वतंत्रता का समूल नाश नहीं कर देते। यदि ऐसा होता तो बुरे आदमी के उद्धार की संभावना भी समूल नष्ट हो जाती और एक बार गर्त में पड़ कर चिर काल तक उसी अवस्था में पड़ा रहना पड़ता। बड़ी कष्ट कल्पना के साथ भी हम ऐसी बात में विश्वास नहीं कर सकते। हमको यह न भूलना चाहिए कि संसार में पुरुषार्थ भी कोई पदार्थ

खरीदी जाती है। इसी लिये स्वभाव एवं स्वाभाविक कार्य भी

है। पुरुषार्थ द्वारा पूर्वजन्मार्जित संस्कार धोए जा सकते हैं और उनके स्थान में उत्तमोत्तम नवीन संस्कार जमाए जा सकते हैं। इस बात को योगवाशिष्ठ के दूसरे प्रकरण में बहुत उत्तमता के साथ बतलाया है—

द्वौ हुडाविव युद्ध्येते पुरुषार्थौ समासमौ।
प्राक्तनश्चैहिकश्चैव शाम्यत्यत्राऽल्पवीर्य्यवान्॥
दोषः शाम्यत्यसंदेहं प्राक्तनोद्यतनैर्गुणैः।
दृष्टांतोऽत्र ह्यस्तनस्य दोषस्याद्यगुणैः क्षयः॥

ऊपर के श्लोकों में कहा है कि पूर्व जन्म और इस जन्म के पुरुषार्थ दो मेंढों की भाँति लड़ते हैं। जो अधिक बलवान् होता है वह दूसरे को शांत कर देता है। जिस प्रकार कल की बदपरहेजी से उत्पन्न हुए अजीर्णादि दोष आज की सेवन की हुई औषधियों और नियमित भोजन से पच जाते हैं उसी प्रकार पिछले संस्कार अगले पुरुषार्थ से शांत हो जाते हैं। यदि मनुष्य की स्वतंत्रता न मानी जाय तो सारे शास्त्र निष्फल हो जावेंगे। यदि मनुष्य परतंत्र है तो वह अपने कर्मों के लिये उत्तरदायी नहीं। सारे शास्त्र और धर्म के प्रवर्तक लोग मनुष्य की स्वतंत्रता रूपी भित्ति पर ही उपदेशों के भव्य भवन निर्माण करते हैं। जो स्वतंत्र नहीं उसको कार्य्याकार्य्य का उपदेश वृथा है। उसके लिये तो सब ही कर्म कर्तव्य की श्रेणी में आ जावेंगे और अच्छे बुरे का भेद न रहेगा। इस युक्ति को योगवाशिष्ठ में इस प्रकार दिया है—

किंवा शास्त्रोपदेशेन मूकोऽयं पुरुषः किल।
संचार्यते तु दैवेन किं कस्येहोपदिश्यते॥

अर्थ—जब मनुष्य मूक और अकर्ता है तब शास्त्र के उपदेश ही से क्या; जब दैव ही सब को चलाता है तब कौन किसको उपदेश दे सकता है। उपदेश करनेवाले ही को उपदेश देने का क्या अधिकार? और उपदेश से ही क्या लाभ जब कर्ता अन्यथा करने के लिये असमर्थ है। अमेरिका के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता विलियम जेम्स ने डिलेमा आफ डिटरमिनिज्म (Dilema of Determinism) नामक एक लेख में इसी प्रकार की एक युक्ति बड़े विस्तार से दी है।

मनुष्य की स्वतंत्रता को मानना कर्त्तव्य-शास्त्र के लिये परमावश्यक है। केवल इतना ही नहीं, स्वतंत्रता के माने बिना मनुष्य के उद्धार की कोई संभावना नहीं। गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है—

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"॥

नैतिक निर्धारण का विषय बन जाते हैं। मनुष्य के आचार स्वभाव के ही बाहिरी रूप हैं। इसलिये चरित्र भी नैतिक निर्धारण का विषय बन जाता है। मनुष्य का उद्देश्य भी जो कि सब कार्यों का हेतु वा संचालक है नैतिक निर्धारण का विषय है। इन सब मानसिक व्यापारों द्वारा मनुष्य का स्वभाव अथवा यों कहिए, उसकी आत्मा का व्यंजन होता रहता है। इसलिये हम इन व्यापारों को भला या बुरा कहते समय पूरे मनुष्य ही को भला बुरा कहते हैं। मनुष्य को अच्छा बनने के लिये अपने भाव और संकल्प सब ही शुद्ध रखने चाहिएँ। इस संबंध में निम्नोल्लिखित ऋग्वेदांतर्गत आशीर्वचनात्मक अंतिम मंत्र ध्यान देने योग्य है।

* समानी वा आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।

---

* अर्थ—हमारा हृदय, मन, भाव और संकल्प सब समान अथच शुद्ध हों जिससे कार्य-साफल्य में बाधा न पड़े।

चौथा अध्याय।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णायक।

पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि प्रत्येक मनुष्य को जीवन में ऐसे अवसर आते हैं, कि जब वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में संदेह को प्राप्त हो, अंधे की भांति किसी पथप्रदर्शक का आश्रय लेता फिरता है।

हमारे पथप्रदर्शक।

'गहना कर्मणो गतिः।' हमारा क्या कर्त्तव्य है इस प्रश्न का उत्तर देना बड़ा ही कठिन है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी अवस्था के अनुकूल निराली निराली कर्त्तव्य-विषयक कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं। यदि सैनिक गण 'अहिंसा परमो धर्मः' पर चलें तो धर्मोपदेशकों को संसार में रहने के लिये स्थान न मिले! यदि डाक्टर लोग सदा सत्य ही बोला करें, तो वे न केवल अपने रोज़गार से हाथ धो बैठें, वरन् बहुत सी हालतों में मनुष्य-हत्या-जन्य पाप के भागी बन जावें! 'असंतुष्टा द्विजा नष्टा संतुष्टाश्च महीभुजः,' जो बात संन्यासी के लिये अमृत तुल्य हैं, वही बात राजा को विष है। 'सच बोल और हिंसा मत कर', यह सर्वमान्य आचार संबंधी नियम बहुत से अवसरों पर काम नहीं देता। फिर यह प्रश्न उठता है कि ऐसे अवसरों पर हम किसे अपना पथ-प्रदर्शक मानें? इसके उत्तर में कोई कोई तो यह कहेंगे कि हमारे ग्रंथही हमारे कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णायक हैं। जहां कर्त्तव्य के विषय में शंका हुई, तुरंत धर्मग्रंथों को खोला और शंका का संतोष-जनक उत्तर मिल गया। और यदि शंका सहज में निवारण न हो सके और यदि शास्त्र भी दो प्रतिकूल धर्मों का प्रतिपादन

करें, तो किसी धर्माधिकारी के पास जाकर उस विषय में उसकी व्यवस्था ले लें। यदि यह भी न हो सके तो 'महाजनो येन गतः स पंथाः' (जिस रास्ते से बड़े आदमी गए हों, वही श्रेय मार्ग मानना चाहिए) वाले नियम को मान लें। कोई लोग ऐसे हैं, जो इन बाहरी निर्णायकों को न मान कर अपने में ही एक प्रकार की छठीं ज्ञानेंद्रिय, 'सदसद्विवेकवती बुद्धि (प्रज्ञा) (Conscience) नाम की मानते हैं। जब कर्त्तव्य के विषय में शंका हुई, तब इस विशेष इंद्रिय के द्वारा देखने से मालूम हो जाता है कि कौन काम भला है और कौन बुरा। बहुत से लोग इस सदसद्विवेकवती बुद्धि के निर्णयों को ईश्वर-कृत निर्णय मानते हैं। वे लोग कहते हैं कि स्वयं ईश्वर ही हमारी अंतरात्मा द्वारा बोलता है। इस विशेष इंद्रिय में एक और विशेषता है, कि यह आंतरिक न्यायाधीश है और एक विशेष प्रकार की मानसिक पीड़ा देकर जल्लाद का भी काम करती है!

बहुत से लोग इस आंतरिक निर्णायक से असंतुष्ट हो एक ऐसा नियम ढूढ़ते हैं, जो प्रत्येक स्थिति में लागू हो सके, वह नियम चाहे स्वतंत्र हो वा परतंत्र किंतु उसको बुद्धि ग्रहण कर सके। वही नियम हमारी क्रियाओं का अंतिम लक्ष्य और कर्तव्याकर्तव्य का अंतिम निर्णायक माना जायगा।

अब, इन तीनों प्रकार के निर्णायकों पर विशेष रूप से विचार किया जायगा। प्रत्येक देश के कर्तव्याकर्तव्य संबंधी विचारों का ज्ञान धर्मग्रंथों से ही हुआ है।

धर्मग्रंथ।

प्राचीन काल में राजकीय आईन भी धर्मग्रंथों के ही आधार पर बनाए जाते थे। धर्म ही मनुष्य के ऐहिक एवं पारलौकिक हित का साधन गिना जाता था। यदि धर्म न होता, तो स्वार्थ की सीमा न रहती। धर्म

की इतनी महिमा गाते हुए भी यह अवश्य कहना पड़ता है, कि धर्म को भी जरा प्राप्त हो जाती है ! काल के बीतने पर, लोग धर्म का असली तत्त्व भूल कर गौण बातों को ही मुख्य मानने लगते हैं। इसका यह फल होता है कि धर्म के नाम पर बड़े बड़े अत्याचार होने लगते हैं। रीति व्यवहार की बातों को प्रधानता दी जाती है। चोरी करनेवाला और हाथ न धोकर खानेवाला मनुष्य, दोनों एक ही दृष्टि से देखे जाते हैं। समय बीतने पर बहुत सी नई नई बातों का समावेश हो जाता है। कभी कभी एक ही ग्रंथ में प्रतिकूल धर्मों का प्रतिपादन किया जाने लगता है तब उनकी एकवाक्यता करने को और नए ग्रंथ रचे जाते हैं। जब एक देश के निवासियों पर अन्य धर्मावलंबियों का राजनैतिक सम्पर्क होता है, तब एक ही देश में दो या तीन प्रतिद्वंदी धर्मों के होने के कारण यह शंका होने लगती है कि कौन सा धर्म सत्य है ? प्रत्येक मनुष्य को अपना धर्म पालन करने का वही नैतिक अधिकार है, जो कि दूसरे को है और जब दो आदमियों के माने हुए धर्म परस्पर विरोधी हों, तब उन दोनों में कौन सा ठीक मार्ग है, इस बात के लिये बुद्धि ही का आश्रय लेना पड़ता है। शास्त्र का यथार्थ आशय समझने के लिये भी बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है*, धर्म की

---

* आगतया गमया बुद्ध्या वचनेन प्रशस्यते।

महाभारत शांतिपर्व अध्याय १४८

इस श्लोकार्ध की टीका इस प्रकार दी गई है। आगतागमयया बुद्ध्या श्रुत्युपगृहीतेन तर्केण सहितं यद्वचनं तेन प्रशस्यते शास्त्रं नान्यतरेण। इसमें युक्तियुक्त शास्त्र वचन ही प्रमाण माना जा सकता है इस बात को और भी स्पष्ट किया है।

ज्ञानमप्यपदिश्यंहि यथा नास्ति तथैववत्।
तं तथा छिन्नमूलेन सन्नोदयितुमर्हसि॥

इस श्लोक के पूर्वार्ध की नीलकंठी टीका में इस प्रकार व्याख्या दी है। किञ्च

बातों का जब तक बुद्धि द्वारा युक्तिपूर्ण निर्णय न हो जावे, तब तक उनमें से विश्वास उठ जाने का भय रहता है। बुद्धि द्वारा धर्म में शका उपस्थित होती है और बुद्धि द्वारा ही विश्वास में दृढ़ता उत्पन्न होती है। धर्म का आचरण स्वतंत्रतापूर्वक होना चाहिए। जो धार्मिक कार्य उनकी योग्यता में विश्वास रख कर किए जाते हैं, वे ही आत्मा को समुन्नत कर सकते हैं*। यह बात शास्त्रों को बुद्धि द्वारा मनन किए बिना प्राप्त नहीं हो सकती। आत्मा का पूर्ण विकाश बिना स्वतंत्रता के नहीं हो सकता है। हमारा यह कहना नहीं, कि शास्त्र को तिलांजलि दे दी जावे! किंतु जो बात की जाय वह स्वतंत्रतापूर्वक निश्चयात्मक बुद्धि से की जाय। जो काम बाहिरी दबाव से होता है, चाहे वह दबाव धर्म का हो और चाहे राज्य का, आत्मा के पूर्ण विकाश का बाधक ही है, साधक नहीं। इसी लिये हमारे यहां स्मृति ग्रंथों में श्रुति और स्मृति प्रतिपादित धर्म मानते हुए भी कहा है, कि 'स्वस्यच प्रियमात्मनः' अर्थात् जो अपनी आत्मा को प्रिय लगे, उसको भी धर्म का लक्षण माना है †। "अपनी आत्मा को प्रिय लगना" यह धर्म का अवश्य एक लक्षण है और प्रायः बहुत से संशयात्मक स्थानों पर काम भी देता है, किंतु यदि कोई केवल 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' को ही धर्म का एक मात्र लक्षण मान ले, तो हम उससे बिना

अपदिश्य दिशोर्मध्ये स्थितं कोटिद्वस्पर्शिज्ञानं संशयरूपं तद्यथा नास्ति तथैव व्यर्थमित्यर्थः। दोनों ओर झुकनेवाले संशयात्मक ज्ञान को व्यर्थ ही बतलाया है।

* छांदोग्योपनिषद में लिखा है " यदेव श्रद्धया चोपनिषदा जुहोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति " अर्थात् जो काम विश्वास तथा अविश्रांत परिश्रम से किया जाता है वही सफल होता है।

† वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ मनु अध्याय २ श्लोक १२

इतना पूछे कि वह आत्मा का क्या अर्थ लगाता है, उस से सहमत होने के लिये तैयार नहीं।

बहुत से लोगों ने विशेषतः यूरोप के सहज ज्ञानवादियों ने आत्मा की एक विशेष शक्ति को ही पूर्णात्मा की संतुष्टि वा असंतुष्टि को बता देने का अधिकार दे रक्खा है। वे इस शक्ति को सदसद् विवेकवती बुद्धि (Conscience) कहते हैं। फ़ारसी में इस को 'जमीर' कहते हैं। प्रेरणाओं को लोग ईश्वर ही की प्रेरणाएँ मानते हैं। जब लोग किसी काम को करते हुए कहते हैं, कि इसके करने में हमारा दिल गवाही नहीं देता है अथवा हमको स्वयं ही लज्जा आती है, तब उनके कहने का यही अभिप्राय होता है कि उनकी सदसद्विवेकवती बुद्धि उस काम को अच्छा नहीं समझती। महाभारत में कहा भी है, कि 'अपत्रपेत् वा येन न तत्कुर्यात् कश्चन' अर्थात् जिससे लज्जा आवे, वह काम कभी नहीं करना चाहिए। बहुत से लोग केवल समाज की निंदा स्तुति को ही धर्माधर्म का एक मात्र निर्णायक बना लेते हैं। सहज-ज्ञानवादी उसी भाव को अपनी आत्मा में लगाकर आत्म-तुष्टि ही को धर्म का मुख्य लक्षण मान लेते हैं। साधारण रीति से देखने से यह मत सर्वमान्य सा प्रतीत होता है, किंतु विचार करने पर इस से बड़ी बड़ी आपत्तियां उपस्थित हो जाती हैं।

सदसद्विवेक बुद्धि

सब से पहले तो यह विचारणीय है कि सदसद्विवेकवती बुद्धि कोई एक पृथक् बुद्धि नहीं मानी जा सकती। क्या कर्त्तव्य के विषय में विचार करनेवाली बुद्धि सम्पत्ति शास्त्र अथवा राजनीति संबंधी विषय में विचार करनेवाली बुद्धि से

सदसदविवेक बुद्धि को निर्णायक मानने में बाधाएं

पृथक् है ? आज कल का मनोविज्ञान (Psychology) कबूतर खाने के समान बुद्धि के विभाग नहीं मानता। बहुत से लोगों को ऐसा अभ्यास चढ़ा होता है, कि सवाल को देखते ही उसका जवाब बता देते हैं, तो क्या हम इस कारण से गणित बुद्धि मान लें ? बड़े बड़े राजनैतिक नेताओं का ऐसा अभ्यास होता है कि वे सहज ही बता देते हैं कि अमुक स्थिति में अमुक कार्य करना पड़ेगा, तो क्या इस कारण एक राजनैतिक बुद्धि भी पृथक् मान ली जावे ? जैसे एक पृथक् गणित बुद्धि मानना असंगत दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार विचार करने पर कर्त्तव्य के विषय में सदसद् विवेकवती बुद्धि को भी मानना अयुक्त मालूम होता है। इस विषय में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि सहज ज्ञान-वादियों का यह कहना है कि सदसद् का ज्ञान हम को जन्म से ही प्राप्त है और सब लोगों को एकसा है। यह कहां तक अनुभवसिद्ध समझा जा सकता है ? यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि 'भिन्न रुचिर्हि लोकः * !' फिर यह देखने में आता ही है कि सब की सदसद्विवेकवती बुद्धि एक सी नहीं। जिन लोगों ने धर्म के नाम पर बड़े बड़े अत्याचार किए उनका दिल उन बातों के करने के लिये अवश्य गवाही देता था। केवल इतना ही नहीं वे लोग उसको धर्म कहते थे। क्या आज कल भी हमारी सदसद्विवेकवती बुद्धि उन कार्यों को श्लाघ्य समझने में अपनी अनुकूलता प्रकट करेगी ? भारत-वासी एक पत्नी के होते हुए दूसरा विवाह करना इतना निंद्य नहीं समझता, जितना कि योरोपवासी। गोश्तखाने में कसाई को धर्माधर्म का ज़रा भी विचार नहीं होता। बहुत

* भाग पाग सूरत प्रकृति अक्षर और विवेक। मिले मिलाये ना मिले ढूंढहू शहर अनेक॥

से लोगों की जीवनी में ऐसा देखा गया है, कि जिस बात से वे पहले घृणा करते थे, वही बात पीछे बड़े चाव से करने लगे। पुराने यूनान में कमज़ोर बच्चों का मार डालना राज्य का धर्म समझा जाता था, क्या उसको अब हम निंदनीय न कहेंगे? इन बातों को देखते हुए सहज-ज्ञान-वाद में शंका होने लगती है। बहुत से लोगों का इस विषय में यह कहना है कि आरंभिक सभ्यता में न कोई धर्म था न अधर्म, लोग पशुवत् विचरते थे।

सहज-ज्ञान-वाद और अनुभव-वाद।

जब उन्होंने देखा कि समाज की स्थिति बिना कुछ नियम बनाए नहीं रह सकती, तब उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार हुआ। सब लोग अपने अपने स्वार्थ की ओर देखें, तो उनका स्वार्थ भी नहीं सध सकता। इस लिये लोगों को अपना स्वार्थ कम करना पड़ा, और उनमें दया, उदारता आदि सद्भावों का उदय होता गया। जैसे जैसे काल बीतता गया, वैसे ही समाज में ये विचार दृढ़ होते गए और परंपरा द्वारा लोगों के मानसिक संस्थान में स्थिर हो गए। फिर ये ही भाव स्वाभाविक समझे जाने लगे। यह दूसरा पक्ष सहज-ज्ञान-वाद से पूरी विपरीतता दिखाता है। यह प्रश्न केवल कर्त्तव्य के विषय में ही नहीं, वरन् सब ही ज्ञान के विषय में है। यह बड़ा झगड़ा है।और इस पुस्तक में नहीं उठाया जा सकता। केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इस विपरीत पक्ष में सत्य का अंश तो बहुत है, किंतु हम यह नहीं मान सकते कि धर्माधर्म संबंधी विचारों को किसी सामाजिक अथवा व्यक्तिगत आवश्यकता को देख कर लोगों ने कोई सभा करके बनाया हो। हमारा यह कहना है, कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य संबंधी

विचार आरंभिक काल में आज कल की भांति सुव्यवस्थित नहीं थे, तथापि उनका बीज मनुष्यों में अवश्य था। यह तो मानना ही पड़ेगा कि अपने से बाहिर जाना, अथवा विस्तार को प्राप्त होना आत्मा का गुण है। इस गुण से कर्त्तव्याकर्त्तव्य संबंधी विचारों का उदय होता है। यह गुण केवल धर्माधर्म का मूल नहीं, वरन् सब ही मानवी क्रियाओं का है। कला-कौशल, विज्ञान और तत्त्वज्ञान सब ही इस गुण के विकाश हैं। इन सब बातों में मनुष्य को प्रत्यक्ष वा वर्त्तमान से बाहिर जाना पड़ता है। आत्मा सर्वव्यापक होने के कारण व्यक्ति में संकुचित नहीं रह सकती, वह अवश्य विस्तार को प्राप्त होना चाहती है। कला-कौशल, धर्म और विज्ञान सब ही वेदांत प्रतिपादित आत्मैक्य-वाद को पुष्ट करते हैं।

आत्मा के अपने से बाहिर जाने में ही कर्त्तव्य-शास्त्र का उदय है। यदि आत्मा में यह गुण सहज न माना जाय, तो अपनी स्थिति और समाज की स्थिति का ही विचार लोगों में किस प्रकार आया? जहां समाज की अथवा व्यक्ति की वर्त्तमान से आगे स्थिति का विचार आया, वहां पहले से ही कर्त्तव्य शास्त्र का मूल सिद्धांत मान लेना पड़ा। समाज की स्थिति के विचार में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उदय नहीं, वरन् वह विचार इस बात को सूचित करता है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य संबंधी विचार के बीज मनुष्य जाति में आदि काल से वर्त्तमान थे। न तो सहज-ज्ञान-वादियों ही का यह कहना ठीक है कि धर्माधर्म संबंधी विचार मनुष्य में आदि काल से चले आए हैं और न विपरीत पक्ष वालों का यह कहना युक्ति संगत मालूम होता है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचारों का जन्म किसी एक काल के लोगों के आपस में सलाह करने के बाद हुआ है।

यह कहना सिद्ध ही नहीं हो सकता कि धर्माधर्म के विचार अनुभवजन्य हैं। अनुभव में मनुष्य वर्त्तमान से बाहिर नहीं जा सकते, और धर्म कला-कौशल तथा विज्ञान संबंधी ज्ञान में अवश्य वर्त्तमान से बाहिर जाना पड़ता है। वैज्ञानिक नियम वर्त्तमान के आधार पर बनाए जाते हैं, किंतु वे वर्त्तमान को अतीत कर भविष्य पर भी लागू होते हैं। हम को बुरे और भले दोनों ही प्रकार के लोगों का अनुभव होता है। मनुष्य की क्रियाएँ संकुचित हैं, किंतु उसके आदर्श विस्तृत हैं। केवल स्वार्थपूर्ण संकुचित क्रियाओं के आधार पर उच्च आदर्श नहीं बनाए जा सकते। हमारे आदर्श हमारी आत्मा के सहधर्मी हैं। धर्म और कर्त्तव्य के आदर्शों की जड़ आत्मा के गुणों में है। आत्मा सदा वर्त्तमान को अतीत करके विस्तार और व्यापकता की ओर जाकर अपने विस्तार को सारे विश्व में देखने का यत्न करती है। इसी यत्न से धर्म, तत्त्वज्ञान, विज्ञान, काव्य और कलाओं का उदय होता है।

सदसद्विवेकवती बुद्धि पर विवेचना करते हुए हम कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषयक ज्ञान के मूल कारण तक पहुँचे गए।

क्रियाओं का एक मुख्य लक्ष्य कर्तव्याकर्तव्य का निर्णायक आत्म-प्रतीति।

इस विवेचना में हम को इस बात का भी दिग्दर्शन हो गया कि हमारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय किस प्रकार का होगा। जब कर्त्तव्याकर्त्तव्य संबंधी विचारों का उदय आत्मा की विस्तृत होने की चेष्टा में है तब हमारा निर्णायक कोई बाहिरी शास्त्र का बताया हुआ नियम नहीं हो सकता। वह नियम आत्म-दत्त होने के कारण मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधा न डाल सकेगा। जो धार्मिक नियम ज़बरदस्ती पालन कराए जाते हैं, वे मनुष्य की स्वतंत्रता के बाधक

होने के कारण समाज को यथोचित लाभ नहीं पहुँचा सकते हैं। हमारा नैतिक परिमाण न तो इतना बहिरी होना चाहिए जो हमारी स्वतंत्रता का बाधक हो जाय और न इतना आंतरिक ही जो प्रत्येक मनुष्य के लिये बदलता रहे और हर एक अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाने लगे। यदि प्रत्येक मनुष्य के लिये नैतिक परिणाम अलग होगा, तो उसका उदय आत्मा के विकाश में न होगा, प्रत्युत वह उसके संकुचन को और भी दृढ़ बना देगा। सब लोगों की आत्माओं के लिये एक सा होने के कारण वह परिमाण आंतरिक रहते हुए भी बाह्य का काम देगा। जो परिमाण सब लोगों के लिये और सब स्थितियों के लिये एकसा हो, वह न तो इतना ऊँचा होगा, जिसको कोई कभी प्राप्त ही न कर सके और न इतना नीचा ही, जिसके प्राप्त करने में कुछ कठिनाई ही न हो। ऐसा होने पर मनुष्य समाज में सब प्रयत्नों का अंत हो जायगा। वह लक्ष्य ऐसा होगा, जो कि उत्तरोत्तर निकटवर्ती होता रहे। इन सब बातों के साथ यह मान ही लेना पड़ेगा, कि वह लक्ष्य एक ही होगा, क्योंकि यदि एक से अधिक होगा, तो उसके भी निर्णायक की आवश्यकता पड़ेगी और सारा परिश्रम वृथा हो जायगा। अंततोगत्वा, यह कह देना परमावश्यक है, कि वह परिमाण हमारी आत्मा के लिये ग्राह्य होगा और वह ग्राह्य तब ही बन सकता है, जब उससे हमारी आत्मा की किसी आवश्यकता की पूर्ति होती हो। संक्षेप में, हमारा नैतिक परिमाण किसी न किसी किसी प्रकार की आत्म-प्रतीति ही होगा। आत्म-प्रतीति अगले अध्यायों में स्पष्ट हो जायगी।

पाँचवाँ अध्याय ।

सुखवाद (Hedonism)

(साधारण)

कर्त्तव्यशास्त्र में सुखवाद का स्थान ।

हम गत अध्याय के अंत में बतला चुके हैं कि हमारा निश्रेयस, परम पुरुषार्थ अथवा कर्त्तव्य का अंतिम निर्णायक किसी न किसी प्रकार का आत्मसंभावन अथवा आत्म-प्रतीति (Self realization) होगा। अब प्रश्न यह है कि यह आत्म-संभावन किस में हो सकता है। मनोविज्ञान से ज्ञात होता है कि हमारी मानसिक वृत्तियां तीन प्रकार की हैं, पहली प्रवृत्ति को हम भावना शक्ति (Feeling) कहेंगे, दूसरी को प्रज्ञा शक्ति (Intellect) और तीसरी को संकल्प शक्ति (Will) कहेंगे। ये प्रवृत्तियां कबूतर के खानों की भांति अलग अलग नहीं हैं। संकल्प शक्ति के साथ भावना और प्रज्ञा लगी हुई है। इसी प्रकार एक शक्ति के योग देने से दूसरी और शक्तियां भी काम करने लग जाती हैं किंतु किसी समय कोई वृत्ति प्रधान होती है और किसी समय कोई और इसी कारण वृत्तियों के ये तीन भेद किए गए। कर्त्तव्य-शास्त्र का विशेष संबंध संकल्प से है। संकल्प का अंतिम परिणाम क्रिया है। क्रिया ही किसी न किसी रूप में हमारी नैतिक निर्धारणा का विषय है। इस कारण संकल्प शक्ति को थोड़ी देर के लिये हम अपनी गणना से बाहिर करना चाहते हैं। हमारा आत्म-संभावन बाकी रही हुई दो वृत्तियों के अर्थात्

भावना और प्रज्ञा शक्ति की अनुकूलता में ही हो सकता है। प्रश्न यह है कि सच्चा आत्म-संभावन किस की अनुकूलता में है? इसी प्रश्न के उत्तर देने में कई मत उठ खड़े हुए हैं। कोई कहते हैं कि सुखान्वेषण ही हमारा कर्त्तव्य है। इस मत के लोग भावना को प्रधानता देते हैं। ये लोग सुखवादी (Hedonist) कहलाते हैं। कोई लोग कहते हैं कि सुख से हमको कोई प्रयोजन नहीं। जो कर्त्तव्य है उसको सुख दुख का लोभ छोड़ कर पालन करना चाहिए। बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो अपनी इच्छाओं के प्रतिकूल चलने को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। ऐसे लोग बुद्धि अथवा प्रज्ञा को प्रधानता देते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो भावना और प्रज्ञा दोनों का यथोचित आदर कर दोनों ही की तुष्टि में सच्चा आत्म-संभावन समझते हैं।

इस अध्याय में तथा इसके आगे के दो अध्यायों में उन्हीं कल्पनाओं का विवरण किया जायगा जो सुख से संबंध रखती हैं। सुख से केवल लौकिक अथवा ऐहिक सुख का अर्थ लेना चाहिए; वैसे तो जो लोग स्वर्गादि सुख की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बना कर सत् कार्यों में प्रवृत्त होते हैं उन लोगों की भी गणना सुखवादियों में ही की जा सकती है।

सुखवादियों के मूल सिद्धांत।

सुखवादियों के कई भेद हैं किंतु वे सब लोग एक स्वर से कहते हैं कि "सर्वस्य सुखमीप्सितम्" (महाभारत शांति पर्व अ० १३९) अर्थात् सुख की इच्छा सब ही करते हैं। सुख की इच्छा स्वाभाविक है। फिर कर्त्तव्याकर्त्तव्य में क्या भेद रह जायगा? क्या पंडित और क्या मूर्ख दोनों एक हो जायँगे? सुख तो दोनों ही चाहते हैं किंतु भेद इतना ही है कि एक के

कार्य अल्प सुखवाले होते हैं और दूसरे के अधिक सुखवाले। अथवा यों कह लीजिए कि एक अपना ही सुख चाहता है और दूसरा समाज के अधिकांश जनों का अधिक सुख। बस एक विषयासक्त पुरुष और उपयोगितावाद के प्रवर्तक पंडित वर मिल (Mill) में यही भेद है। अब इन भेदों पर जरा विशेष रूप से विचार करना चाहिए।

सुखवादियों के सब ही सम्प्रदाय "दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्" इसको मनोविज्ञान शास्त्र की पहली स्वयंसिद्धि मानते हैं, किंतु कर्त्तव्य के विषय में उनका मत-भेद है। एक सम्प्रदाय के लोग यह कहते हैं कि हमको अपना ही सुख अभीष्ट है। "आप सुखी तो जग सुखी"। यह लोग अपना सुख प्रधान समझते हैं। "अव्वल खेश बादहू दरवेश"। इन लोगों का अंतिम लक्ष्य तो व्यक्तिगत सुख है किंतु यदि अपने सुख के साथ दूसरे का भी सुख संपादन हो जाय तो इसको ये लोग बुरा न कहेंगे। इस मत को हम व्यक्तिगत सुख-वाद अथवा संक्षेप से स्वार्थवाद कहेंगे। इस स्वार्थ-वाद में कई श्रेणियां हैं।

दूसरे संप्रदाय के लोग व्यक्ति के सुख की अपेक्षा समाज के सुख की चेष्टा करना अधिक श्रेय समझते हैं। ये लोग संसार में अधिक से अधिक सुख की मात्रा चाहते हैं। "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" यही इस संप्रदायवालों का मूल मंत्र है। इसी को उपयोगितावाद (utiltarianism) कहते हैं। विकाशवादियों ने भी इस सिद्धांत को अपने मत के अनुकूल एक नया रूप दे दिया है।

स्वार्थवाद—इस मत के लोग हमारे देश में चार्वाक के नाम से प्रसिद्ध हैं, और प्राचीन यूनान में सिरेनिक्स

(Cyrenaics) और ऐपीक्यूरियंस (Epicureans) इस मत के माननेवाले हुए हैं।

चार्वाकों का कहना है कि जब तक जिओ सुख से जिओ, भला बुरा कुछ नहीं, जो कुछ है इसी लोक में है, परलोक आदि सब कल्पना मात्र हैं। उनके मत में कहा है कि "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" अर्थात् जब तक जिए सुख से जिए, ऋण करके (भी) घी पीना चाहिए (हमारे देश के स्वार्थवादी भी बड़े सात्त्विक वृत्ति के लोग थे वे बिचारे घी पीकर ही संतुष्ट हो जाते थे उन्होंने "घृतं पिवेत्"की वजाय पश्चिमी देशों के स्वार्थवादियों की भांति "सुरां पिवेत्" नहीं लिखा) देह भस्म हो जाने पर फिर लौटना कहां? यदि इन लोगों से कहा जाय कि संसार में निरा सुख मिलने से रहा, जब मिलेगा तब दुःखमिश्रित ही मिलेगा तो इस युक्ति से इनका उत्साह किंचिमात्र भी नहीं घटता। चार्वाकों का कहना है कि—

चार्वाक।

> त्याज्यं सुखं विषय-संगम-जन्म पुंसां
> दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
> व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
> को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी॥

विषयों के संग से पैदा होनेवाला सुख दुःख से मिला हुआ होने के कारण त्याज्य है, ऐसी धारणा मूर्खों ही की होती है। भला ऐसा कौन आदमी है जो भुसी से ढके हुए होने के कारण उत्तम सफ़ेद चावल वाले धानों को छोड़ देगा। चार्वाकों के सिद्धांत वाल्मीकीय रामायण में जाबालि ऋषि के

मुख से कहे गए हैं और महाभारतांतर्गत कणिक नीति में स्वार्थवाद पराकाष्ठा को पहुँच गया है। कणिक के मत से स्वहित साधन में दूसरों का चाहे जितना अनहित किया जाय बुरा नहीं। उनका कथन है कि दूसरों का मर्मच्छेदन किए बिना, दारुण कर्म किए बिना और धोखा दे कर मारे बिना मनुष्य बड़े ऐश्वर्य्य को नहीं प्राप्त होता। "नाच्छित्वा परमर्माणि ना कृत्वा कर्म दारुणम्। नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्"। इस मत के माननेवाले भर्तृहरि के मत से उन मानव राक्षसों में से हैं जो अपने हित के लिये पराया अनर्थ करते हैं "तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नंति ये"। कणिक के सिद्धांत कई बातों में जर्मन पंडित निशी (१८४४-१९००) (Nietzce) से मिलते जुलते हैं। निशी साहेब अपनी आचारपद्धति में दया शांति आत्मत्याग आदि सद्गुणों को स्थान नहीं देते। उनके मत से ये सब गुण अवनति के कारण हैं। शक्ति बढ़ानेवाले संकल्प ही इनके मत में श्रेय समझे जाते है। निशी ने बल को ही स्तुत्य माना है।

सिरैनिक और एपीक्यूरियंस।

प्राचीन यूनान में सिरैनिक और ऐपी क्यूरियन (Cyrenaics and Epicureans) संप्रदाय के लोगों ने स्वार्थवाद का प्रचार किया था। सिरैनिक संप्रदाय के मुख्य व्यवस्थापक ऐरिस्टीपस (Aristippus) सिरीन् (Cyrene) नगर में रहते थे, इसी कारण इस संप्रदाय के लोग केवल सुखवादी थे। ये सुखान्वेषण में आगे पीछे का कुछ विचार नहीं करते थे। ये लोग तात्कालिक सुख के पक्षपाती थे। ये विषयवासना के सुख को बुरा नहीं कहते थे। किसी प्रकार

से वर्तमान में सुख होना चाहिए आगे जो कुछ होगा सो देखा जायगा। "अब तो आराम से गुज़रती है आक़बत की खुदा जाने"।

ऐपीक्यूरियन् संप्रदाय के प्रवर्त्तक ऐपीक्यूरस (३४१–२७० ई० पू०) भी यही मानते थे कि सुख ही परम पुरुषार्थ है और दुःख ही महापाप है, किंतु इनमें और सिरैनिक संप्रदाय के मुख्य व्यवस्थापक एरिस्टीपस में इतना भेद है कि ये तात्कालिक सुख के पक्षपाती नहीं। ये दुःख-परिणामी सुख के पीछे नहीं दौड़ेंगे और सुख में अंत होनेवाले दुःख को सहर्ष स्वीकार करेंगे। ऐपीक्यूरस के मत में ऐंद्रिक सुख के साथ साहित्य और तत्त्वज्ञान के पठन पाठन से उत्पन्न हुआ सुख भी ध्येय है।

चार्वाकों की भांति ये भी भविष्य को नहीं मानते। इसी लिये इनको डैमोक्रिटस (Democritus) के निरीश्वर परमाणुवाद में शरण लेनी पड़ी। ये लोग मृत्यु को दुःखमय नहीं मानते। इनका कहना है कि जब तक जीते हैं तब तक मौत नहीं और जब मर गए तो कुछ नहीं रहा, फिर दुःख किस को होगा? परमाणुवाद तथा संवेदनात्मक मनोविज्ञान के आधार पर इनका मत कुछ स्थिरता पा गया।

स्वार्थपरायण सुखवाद का खंडन।

वर्तमान काल में दूसरों के हित को न विचारनेवाले बहुत से मनुष्य होंगे, किंतु ऐसे घोर स्वार्थवाद को युक्तियों द्वारा समर्थन करने का शायद ही किसी को साहस पड़ेगा। स्वार्थवाद के कम करने में ईसाई मत का यूरोपीय सभ्यता पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा है। स्वार्थवाद और परार्थवाद के बीच की श्रेणी के भी दो एक मत हैं। उनका

विवरण आगे दिया जायगा। अब पाठक गण थोड़ी देर के लिये स्वार्थवाद के गुण दोषों पर विचार कर लें।

स्वार्थवादियों का केवल इतना ही कहना है कि प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः अपना हित चाहता है और इसके साथ वे लोग यह भी कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का हित उसके सुख में है, अतः सबके लिये अपना सुख चाहना अभीष्ट है, दूसरे के सुख से कुछ मतलब नहीं, "आप जिये तो जग जिया कुनबा मुये न हानि"। ये लोग व्यक्ति को ही सारे संसार का केंद्र मानते हैं। जो मेरे हित का है वह कर्त्तव्य है और जिससे मेरा हित नहीं उससे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं, वह चाहे रहे चाहे जाय। अब जरा विचारिए कि ऐसा स्वार्थवाद युक्ति की कसौटी पर कहां तक ठीक उतरता है। इस मत में सब से पहला तो यही दोष है कि इसमें व्यक्ति को समाज से स्वाधीन माना है। "अपनी अपनी ढापली और अपना अपना राग"। क्या मेरा सुख दूसरे के सुख से बिलकुल पृथक् हो सकता है ?। सुख दुःख भी प्लेग की भांति संक्रामक हैं। रोती हुई समाज में यदि कोई एक व्यक्ति हँसता हुआ रहना चाहे तो उसके लिये ऐसी समाज में प्रसन्नमुख होकर रहना असंभव है। इसके साथ यह भी देखना चाहिए कि बहुत से ऐसे सुख हैं जो सामाजिक हैं, अर्थात् उनका उपभोग करने के लिये व्यक्ति को अपने से अतिरिक्त और मनुष्यों की आवश्कता पड़ती है। ऐसे सुखों के लिये व्यक्ति को अपने सुख के साथ दूसरों के सुख का भी साधन करना पड़ता है, और उसको निरे स्वार्थ, वाद से हटना पड़ता है। इसके अतिरिक्त एक और बड़ी समस्या है जिसको हल करने में व्यक्तिवाद असमर्थ है। यदि यह भी मान लिया जाय कि मुझको अपना ही परमहित

अभीष्ट है, तो हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि परमहित किसको कहेंगे। हम परमहित उस ही को कह सकते हैं जो निरपेक्ष हो अर्थात् जो सबके लिये एक सा हो। वह पूर्ण हित नहीं कहा जा सकता जो केवल मेरे ही लिये हित कारक हो; जो हित सबके लिये एकसा हो वही श्रेष्ठ और सर्व-मान्य गिना जायगा; जो हित केवल मेरे ही लिये हित है उसका हित होना स्वयंसिद्धि नहीं; सम्भव है कि मैं उसको अपनी मूर्खता के कारण हित समझता होऊं। यदि मैं अपना परम हित चाहता हूं तो मुझे ऐसे हित के लिये यत्नवान होना पड़ेगा जो दूसरों का भी हित हो। ऐसा करने में व्यक्तिवाद को तिलांजलि देनी पड़ती है और यदि ऐसा नहीं करता, तो मैं अपने परम हित का इच्छुक नहीं रहता हूं; फिर भी व्यक्तिबाद से गिरना पड़ा, इधर खाही और उधर कुँआं, दोनों ओर से भ्रष्ट हुए "न माया मिली न राम"। इतो भ्रष्ट स्ततो भ्रष्टः।

जिस प्रकार व्यक्तिवाद युक्तियुक्त नहीं ठहरता उसी प्रकार उसके साथ का सुखवाद भी कट जाता है। सुख-वादियों का कहना है कि "सर्वस्य सुखमीप्सितम्' किंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। हमारी इच्छा या कामना काम्य प-दार्थ के लिये होती है, न कि काम्य पदार्थ की प्राप्ति से उत्पन्न होनेवाले सुख के लिये। यदि हमको केवल सुख ही सुख की इच्छा होती तो सुख की कल्पना से ही हमारी तुष्टि का होना संभव था और हम को यह न कहना पड़ता कि "नहीं मनमोदक भूख बुताई"। थोड़ा बहुत सुख तो कामना करते समय काम्य पदार्थ और उसकी प्राप्ति संबंधी भावी सफलता के विचार में मिल जाता है। इस सुख के लिये कोई कामना नहीं करता

और न कोई केवल इसी सुख की प्राप्ति के अर्थ चेष्टा करता है। हमारी चेष्टा वस्तुतः काम्य पदार्थ की प्राप्ति के लिये होती है, सुख प्राप्ति के अर्थ नहीं। काम्य पदार्थ हमेशा (सुख) नहीं होता। औदरिक का भी काम्य पदार्थ सुख नहीं, भोजन ही है। काम्य पदार्थ की प्राप्ति ही हमारी कामनाओं का विषय होती है वह स्वयम् ही मूल अभीष्ट है दूसरे अभीष्ट का साधन नहीं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि हम दुःख को ही जान बूझकर अपना काम्य पदार्थ बनाते हैं, इसलिये "सर्वस्य सुख-मीप्सितम् जैसा देखने में निर्विवाद ज्ञात होता है वैसा वास्तव में नहीं है। हम सुख नहीं चाहा करते वरन् सुखपरिणामी पदार्थ हमारी चाह के विषय होते हैं। यही बात हम उद्देश्य अथवा लक्ष्य की व्याख्या करते हुए बतला चुके हैं और आगे भी उपयोगितावाद के संबंध में कहेंगे। व्यक्तिगत सुखवाद के दोनों ही अंगों का खंडन हो चुका। अब हम उपयोगिता-वाद पर जाने के पूर्व सुखवाद की और कल्पनाओं के ऊपर विवे-चन करना चाहते हैं।

स्वार्थ सुखवाद की उच्च श्रेणियां।

यह बात ऊपर बता दी गई है कि कोरे स्वार्थवाद से काम नहीं चल सकता। समाज में रह कर दूसरे के हित को (अथवा सुखवादियों की भाषा में 'सुख' कह लीजिए) अवश्य अपना अभीष्ट बनाना पड़ता है। समाज संगठन के अर्थ भी स्वार्थ की सीमा बाँधनी पड़ती है। अनियमित स्वार्थ में समाज की स्थिति नहीं रह सकती। संसार में परोपकारी और आत्म-त्यागी मनुष्यों की स्थिति कोरे स्वार्थ-वादियों को अवाक कर देती है। परोपकार को संसार से हटाया नहीं जा सकता। आजकल कलिकाल में भी बड़े बड़े दानवीर वर्त्तमान हैं। उन

सबको उन्मत्त कहकर एक बार संसार से बिदा नहीं कर सकते। परोपकार अथवा परहित साधन की कुछ तो व्याख्या अवश्य देनी पड़ेगी। कुछ लोगों ने पदार्थ को स्वार्थमूलक ही मान लिया है। सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध नीतिवेत्ता हाब्स (Hobbs) (१५८८–१६७९ ई०) ने कहा है कि उदारता आत्म-प्रीति अथवा आत्महित का ही रूपांतर है, दया अपनी संभावित दीन हीन अवस्था पर विचार से उत्पन्न हुआ एक प्रकारका भय है। सब क्रिओं का मूल स्वार्थ है। सब कर्मों के साथ स्वहित साधन की कामना लगी हुई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक दूसरे प्रसंग से यही सिद्धांत दिया गया है और उसके साथ ही साथ उसके काटका भी दिग्दर्शन कर दिया है। "हम अमर कैसे होंगे ? इस प्रश्न का उतर देते हुए याज्ञवल्क्य जी महाराज कहते हैं कि मनुष्य अपने पुत्र से पुत्र के अर्थ प्रीति नहीं करता है, वरन अपने ही प्रीति वा सुख के लिये। इसी प्रकार उन्होंने संसार के लिये भी कहा है "नवा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवंति, नवा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति" अर्थात् संसार के हित के लिये संसार प्रिय नहीं होता, और जीवधारी लोगों के हित के लिये वे प्रिय नहीं होते हैं वरन अपने हित; प्रीति वा सुख के लिये। फिर सब उदाहरणों का सार बताते हुए याज्ञवल्क्य जी कहते हैं "नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियम् भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियम् भवति"। अर्थात् सब के अर्थ सब नहीं प्रिय होता किंतु आत्मा की प्रीति, हित वा सुख के अर्थ सब प्रिय होता है। याज्ञवल्क्य जी इतना कह कर नहीं ठहर गए। इतना ही उनमें और हाब्स साहिब में अंतर है। इस बात को

कह कर उन्होंने इसी स्वार्थवाद से परम निश्रेयस का ज्ञान करा दिया है। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियम् भवति" इसके आगे ही वे कहते हैं "आत्मा अरे वा द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञाने नेद ँ सर्वं विदितम्"। इस मंत्र में आत्मा के ऊपर विचार करने की आज्ञा दी है। आत्मा के यथार्थ ज्ञान से ही कर्त्तव्य एवं सारे संसार का यथार्थ ज्ञान हो जायगा। हाब्स साहिब के आत्मा-संबंधी विचार बहुत ऊँचे न थे इसी कारण वे स्वार्थवाद से ऊँचे न जा सके। उनके आध्यात्मिक विचार प्रकृतिवादियों के से ही हैं। वे सब मानसिक क्रियाओं को शरीर की आंतरिक क्रियाओं की छाया मानते हैं। जो प्रकृतिवादी लोग स्वार्थवाद से ऊँचे गए हैं उन्होंने एक प्रकार से अपने सिद्धांतों का विरोध किया है। हाब्स साहिब स्वार्थवादी थे और वे लड़ाई झगड़ा करना मनुष्य का प्राकृतिक गुण मानते थे। वे शांतिप्रिय थे किंतु उनकी शांतिप्रियता का मूल स्वार्थ ही में था। वे कहते हैं कि स्वार्थ की सीमा बाँधने में ही पूरी रीति से स्वहित साधन हो सकता है। शांति की ही अवस्था में मनुष्य अपना हित साधन करने की आशा कर सकता है और शांति स्वार्थ को संकुचित किए बिना प्राप्त नहीं हो सकती। यही सिद्धांत हाब्स साहिब की राजनीति और समाज शास्त्र का मूलमंत्र है। इसी सिद्धांत पर वे समाज में आईन और नियमों की स्थिति की व्याख्या करते हैं। मैंडेवैली साहिब (Mendeville) का मत इस स्वार्थवाद का अंतिम परिणाम है। उनका कहना है कि सारा धर्म राजाओं ने अपने स्वार्थ से बनाया है जिसके कारण प्रजा के शासन में उनको कठिनाई न पड़े। इस मत में हाब्स साहिब

के स्वार्थवाद के छिद्र बड़े होकर दिखाई पड़ते हैं। हाब्स साहिब का मत कोरे स्वार्थवाद से अवश्य अच्छा है। उनके स्वार्थवाद पर चाहे राजनैतिक संस्थाओं के भी ऊँचे ऊँचे महल बन जायँ किंतु उनके अनुसार मनुष्य हृदय के उदार भावों की पूर्ण व्याख्या नहीं हो सकती। क्या ऐसे मनुष्य नहीं हैं जो अपने यश अपयश की परवाह न करते हुए भी दूसरों के लिये अपना सर्वस्व समर्पण कर देने को तैयार रहते हों? ऐसे मनुष्यों की मानसिक स्थिति की हाब्स साहिब क्या व्याख्या देंगे? बहुत से ऐसे अवसर भी आते हैं जब कि अपने अर्थसंपादन के लिये पदार्थ को साधन बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कभी कभी ऐसे अवसर भी आ जाते हैं जब कि स्वार्थ और परार्थ में झगड़ा पड़ता है। ऐसे समय में हाब्स साहिब के मत से स्वार्थ साधन ही श्रेय है। इस बात के मानने में हाब्स साहिब ने संकोच नहीं किया। वास्तव में हाब्स साहिब ने मनुष्य के धार्मिक कर्त्तव्य को राजनैतिक नियम और देश के आईन के साथ मिला दिया है। जैसा कि आगे दिखलाया जायगा हमारा धार्मिक कर्त्तव्य राजनैतिक नियम और देश के आईन के विरुद्ध नहीं है किंतु उससे उच्चतर है। हाब्स साहिब ने मनुष्य के उच्च भावों पर चौका लगा दिया है, स्वार्थरहित उदारता को जड़ से उड़ा दिया है। जब निष्प्रयोजन पाप कर्म किए जाते हैं; जब ऐसे लोग वर्तमान हैं जिनके विषय में महात्मा भर्तृहरि लिखते हैं कि "ये तु घ्नंति निरर्थकम् परहितम् ते केन जानीमहे" तब "एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये" ऐसे लोगों की निःस्वार्थ परोपकार स्थिति में विश्वास करना क्या अनुचित है?

हाब्स साहिब का यह भी कथन कि "दया अपनी संभावित दीन हीन अवस्था पर विचार करने से उत्पन्न हुए भय का रूपांतर है" समझ में नहीं आता। यदि हम किसी दरिद्री को केवल इसी अभिप्राय से धन देते हैं कि शायद हम भी इस अवस्था को न प्राप्त हो जायँ और दूसरे लोग हमारी सहायता न करें तो हम को स्वार्थवाद के आधार पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि हमारे दरिद्री हो जाने पर दूसरे लोग हमारी अवश्य ही सहायता करेंगे। दरिद्री को धन देने से समाज के अन्य लोग अपने ऊपर कोई इस बात का भार नहीं ले लेते कि जब दाता निर्धन हो जायगा तब वे लोग उसकी उदारता का बदला दे देंगे। भावी धनप्राप्ति की आशा से अपने प्रस्तुत धन को खो देना कोई पांडित्य का काम नहीं। कहा भी है कि

लप्स्यमान धनावेशात्, कृतलब्ध धनव्ययः।
त्रिवर्गविषया विज्ञः, समूढ इति कथ्यते॥ * (पुरुषपरीक्षा)

स्वार्थवाद के आधार पर दया वा उदारता की व्याख्या करना बड़ा कठिन है। हाब्स साहिब में स्वार्थवाद की अपेक्षा सुखवाद की मात्रा कम है किंतु उनकी गणना सुखवादियों ही में की जायगी और जो दोष कि सुखवाद में दिखाए जाते हैं वे सब इनके मत पर भी लागू हैं।

हाब्स साहिब के मत का खंडन करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि परार्थ को स्वार्थ की भाषा में रखना कितना कठिन है। इसी कठिनाई को देखकर कुछ लोगों ने एक प्रकार के उभयवाद में सहारा लिया है। इन लोगों का कहना है कि स्वार्थ साधनेच्छा

उभयवाद।

* अर्थ—भावी धन की आशा से वर्तमान धर्म का व्यय करनेवाला; धर्म, अर्थ, काम को नहीं माननेवाला मूर्ख कहाता है।

के साथ ही मनुष्य में परार्थ साधन की इच्छा लगी हुई है और साधारणतः स्वार्थ और परार्थ में विरोध भी नहीं होता है। परार्थ में स्वार्थ है और स्वार्थ में परार्थ है। यदि मैं अपना पालन पोषण कर रहा हूं तो मैं एक प्रकार से समाज के ऊपर से अपने भरण पोषण का भार हटा रहा हूं और एक व्यक्ति को उन्नत बना कर उस अंश में समाज की उन्नति कर रहा हूँ, और यदि मैं परार्थ साधन में तत्पर होऊं तो दूसरों के हित के साथ में अपना भी हित कर रहा हूं क्योंकि दूसरे भले बन कर अंत में मुझको किसी न किसी प्रकार का लाभ पहुँचावेंगे। स्वार्थ और परार्थ दोनों ही ठीक हैं, जैसा जिस समय सुभीता पड़ जाय वैसा करना चाहिए। कामंदकीय नीतिसार में भी एक जगह ऐसा मत प्रतिपादित है।

परार्थं देशकालज्ञो, देशे काले च साधयेत्।
स्वार्थं च स्वार्थकुशलः, कुशलेनानुकारिणः ॥ *

यह साधारण लोगों को नीति है। ऐसे लोगों को भर्तृहरि महराज ने भी साधारण मनुष्यों की कोटी में रक्खा है।

"सामान्यास्तु परार्थ मुद्यममृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये"

अर्थात् सामान्य वे लोग हैं जो बिना अपने हित का विरोध किए हुए दूसरों के हित साधन में सदा तत्पर रहते हैं। सुखवादियों में उभयवाद का समर्थन

हेनरी सिजविक

आज कल के समय में हैनरी सिजविक ने किया है। यह स्वार्थ और परार्थ साधने की इच्छा दोनों ही को मनुष्य में स्वाभाविक मानते हैं। यदि मनुष्य जीवन

---

* अर्थ-देश और काल को जाननेवाला विशेष समय या स्थान पर परार्थ को भी साधे और स्वार्थपर मनुष्य स्वार्थ की ही सिद्धी करने का प्रयत्न करे।

में ऐसे अवसर न होते जब कि स्वार्थ और परार्थ में झगड़ा होता है, जहाँ कि स्वार्थ त्याग ही द्वारा परार्थ साधन की संभावना होती है और जहां पर बिना आत्म-बलिदान किए देश या समाज का हित साधन नहीं होता, तो शायद उभयवाद सध जाता किंतु ऐसे अवसर आने पर उभयवादियों को और झुक कर उच्च पद से हटना पड़ता है। स्वयं सिजविक साहिब इन विरोधात्मक प्रवृत्तियों की एकता करना कर्तव्य शास्त्र की कठिनतम समस्या मानते हैं और वे इस कठिनाई को दूर करने के अर्थ ईश्वर की सहायता लेते हैं। लेकिन विरोधात्मक पदार्थों को एक करने में ईश्वर भी असमर्थ है, जैसा कि कहा भी है कि "बाधितमर्थं वेदाऽपि न बोधयति" विरोधात्मक बात को वेद भी नहीं समझा सकते हैं। जब यह मान लिया कि प्रत्येक मनुष्य के लिये अपना अधिक से अधिक हित चाहना श्रेय है, फिर उसी के साथ दूसरों का भी हित चाहना श्रेय है यह किस प्रकार हो सकता है। जो लोग अपना अधिक से अधिक हित (सुख) चाहते हैं वे यदि दूसरों का हित चाहेंगे तो स्वार्थवाद में बाधा पड़ जायगी और यदि स्वार्थ-वाद में बाधा नहीं डालना चाहते तो परार्थवाद नहीं सधता। "रामाय स्वस्ति और रावणाय स्वस्ति, दोनों ही एक साथ नहीं कहा जा सकता। इससे यह न समझा जाय कि परार्थ और स्वार्थ में सचमुच ऐसा ही भेद है जैसा भलाई और बुराई में, किंतु इतना भेद अवश्य है कि वह कभी कभी बड़े आदमियों को किं-कर्तव्य-विमूढ़ बना देता है।

सिजविक साहिब स्वार्थ और परार्थ दोनों का अस्तित्व नैसर्गिक मानते हैं, किंतु यदि उनसे पूछा जाय कि वह अर्थ या हित किस में है तो उसके लिये उनके पास एक ही उत्तर है

कि सुख ही परम पुरुषार्थ है। वे केवल सुख ही सब क्रियाओं का मुख्य लक्ष्य मानते हैं, और सब लक्ष्य साधन मात्र हैं।

यदि यह भी मान लिया जाय कि सुख के अतिरिक्त और कुछ भी हमारे इष्ट में शामिल नहीं है तो भी हमको यह अवश्य मानना पड़ेगा कि वह इष्ट सुखदायक होने के कारण ही इष्ट कहलाया। इस बात में वह अपनी सदसद्विवेक बुद्धि को ही प्रमाण मानते हैं। इस कथन की तीनों बातें विचारणीय हैं। पहले तो सुख के अतिरिक्त और बहुत से अभीष्ट पदार्थ हैं जैसे कि ज्ञानप्राप्ति की इच्छा, अथवा सुंदरता में मग्न होना और फिर केवल सुख को कोई नहीं चाहना, यदि हम को सुख हो और उसके साथ यह ज्ञान न हो कि हम सुखी हैं तो ऐसे सुख को कोई न चाहेगा। यदि सुख को मुख्य अंग माना जाय तो क्या हानि होगी? इसका उत्तर हम केवल इतना ही देना चाहते हैं कि अंग या भाग पूर्ण से बड़ा नहीं हो सकता और यदि हम किसी एक अंग को ही मुख्य माने तो दूसरे अंग की आवश्यकता ही क्या थी। दूसरे अंग का वर्तमान होना किसी एक अंग के मुख्य न होने का सब से बड़ा प्रमाण है। यदि हमारे इष्ट में सुख के अतिरिक्त और कोई शामिल है तो सुख हमारा इष्ट नहीं, और न हम उसे इष्ट के अंगों ही में श्रेष्ठता दे सकते हैं। वर्तमान शताब्दी में केम्ब्रिज निवासी डाक्टर मेक्टेगर्ट ने (Mctaggert) सुख को न तो क्रियाओं का लक्ष्य ही माना है और न उसको लक्ष्य का कोई अंश स्वीकार किया है किंतु सुख दुःख को किसी कार्य्य के धार्मिक मूल्य निर्धारित करने में प्रधान मापक माना है। सुख दुःख का अनुभव सबको एक सा नहीं होता, किसी को

अधिक और किसी को कम। जो मापक प्रत्येक मनुष्य के साथ बदले उसका क्या विश्वास ?

सदसद्विवेकवती बुद्धि पर हम पूर्णतया विश्वास नहीं कर सकते और न हम जन समुदाय के वाक्यों को प्रमाण मानना ठीक समझते है क्योंकि उन्हों ने अपने मन और अपनी क्रियाओं का पूरी रीति से विश्लेषण नहीं किया है और यदि हम उनके कहने को प्रमाण भी मान लें तो सिजविक साहिब को विशेष लाभ न होगा। जन समुदाय की नैतिक निर्धारणा उनके प्रतिकूल पड़ेगी क्योंकि साधारण लोग सुखों में ऊँचे नीचे का भेद अवश्य मानते हैं। सिजविक साहिब यह भेद मानने को तैतार न होंगे, क्योंकि ऐसा करने से उनको सुखवाद से हटना पड़ेगा।

छठां अध्याय।

उपयोगिता वाद।

(Utiltarianism)

गत अध्याय में स्वार्थ-वाद-संबंधी कई प्रकार की कल्पनाओं का विवेचन हो चुका है। अब देखना चाहिए कि सुखवादियों के परार्थवाद से अथवा उपयोगिता वाद (Utiltarianism) से हमारी कहांतक तुष्टि होती है। 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' यही उपयोगिता वाद का मूल मंत्र है। विलायत में इस मत के प्रवर्तक वेनथम (Bentham) और मिल (Mill) हुए हैं। वेनथम साहिब (१७४८–१८३२) ने अधिकांश लोगों का अधिक सुख परम पुरुषार्थ माना है। उन्होंने इस बात का कोई प्रमाण नहीं दिया कि अधिकांश लोगों ही का सुख क्यों अभीष्ट है ? उन्होंने केवल अपनी ही मिसाल देकर कहा है कि दूसरों के सुख में ही उनको सुख मालूम होता है। वैसे उन्होंने यह भी मान लिया है कि वास्तव में सुख चाहने से ही काम चलता है। दूसरों का सुख तो ऐसा है कि जैसे खाने में स्वाद बढ़ाने के लिये थोड़ी सी चटनी या मिठाई खा ली जाय ! * वेनथम साहिब सुखों में गुणभेद नहीं मानते, केवल

वेनथम साहिब कृत उपयोगिता वाद की परिभाषा

* Sympathy is very good for dessert, self-regard alone will serve for diet.

परिमाण भेद ही मानते हैं, अर्थात् जो सुख देर तक रहने-वाले हैं और जिनके साथ कम दुःख लगा हुआ है और देर तक रहने से जिनकी तेजी न घटे, ऐसे सुखों को दुःखपरिणामी और अल्पस्थायी सुखों की अपेक्षा पसंद करना चाहिए। बेनथम साहब ने कुछ कर्त्तव्य के उत्तेजक भी माने हैं। उसका कारण यह है कि दूसरों का सुख चाहना मनुष्य का परम लक्ष्य है, तथापि जब तक उस लक्ष्य की ओर जाने में व्यक्ति को कुछ सुख वा दुःख अथवा भय से न बचना होगा, तब तक वह व्यक्ति शीघ्र दूसरे के सुख की चेष्टा करने में प्रवृत्त न होगा। इस लिये पांच मुख्य उत्तेजक माने गए हैं। पहला प्राकृतिक नियम, जैसे अधिक विषय-भोग में लिप्त होने से स्वास्थ्य बिगड़ने का डर रहता है। दूसरा, राजनैतिक नियम या आइन है, जिसके भय से मनुष्य स्वार्थ को उचित मात्रा से बढ़ने नहीं देता है। तीसरा, समाज की निंदा स्तुति, दूसरों का सुख चाहने में समाज से आदर और प्रशंसा मिलती है तथा स्वार्थी बनने में निंदा होती है। स्तुति, के प्रलोभन और निंदा के भय से मनुष्य पर-हित-साधन में प्रवृत्त होता है। हमारे यहां ऊंचे विचारवाले लोग निंदा की परवा नहीं करते हैं। उनके लिये धर्म करने के लिये धर्म ही की उत्तेजना पर्याप्त है। निष्काम कर्म की दृष्टि से ये सब उत्तेजक वृथा हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में तुल्य निंदा स्तुति वाले पुरुष को ही भगवान ने अपना प्रिय बताया है। भर्तृहरि महाराज लिखते हैं कि,

> निंदन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
> लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलंति पदं न धीराः ॥*

चौथी उत्तेजना धर्म की है। बहुत से अच्छे कार्य ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ अथवा स्वर्ग के लोभ और नरक के भय से किए जाते हैं। पांचवी उत्तेजना आत्म-तुष्टि की मानी गई है। दूसरों को सुख देने से आत्म-तुष्टि और स्वार्थी बनने से आत्म-ग्लानि पैदा होती है। सुखवादियों ने इन उत्तेजकों को तो माना है, किंतु इनके मानने में उनको अपने पक्ष से गिर जाना पड़ता है। इन उत्तेजकों का अस्तित्व ही इस बात का प्रमाण है कि सब को दूसरों का सुख अभीष्ट नहीं है। वेनथम साहब के सुखवाद का अधिक गुण-दोष-निरूपण न किया जायगा, क्योंकि उपयोगितावाद के सर्वोत्तम व्याख्याता मिल साहब ही हैं और उनके गुण-दोष-निरूपण में प्रायः सब उपयोगितावादियों के गुण दोष आ जावेंगे।

मिल साहब (J. S. Mill—१८०६-१८७३) भी वेनथम साहिब की वचनिका को मानते हैं। उनका भी यही कहना है, कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख ही हम लोगों का अभीष्ट होना चाहिए। इस बात को मिल साहब निम्नोल्लिखित वाक्यों द्वारा सिद्ध करते हैं। * "इसके लिये कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता

उपयोगिता-वाद सिद्ध करने में मिल साहब की युक्ति

---

* अर्थ—नीति में निपुण मनुष्य निंदा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी रहे चाहे बिलकुल रुष्ट हो कर चली जाय, मृत्यु आज ही प्राप्त हो अथवा कालान्तर में हो परंतु धीर पुरुष न्यायमार्ग से कभी च्युत नहीं होते।

† No reason can be given why the general happiness is desirable, except that each person, so far as he

कि सर्वसाधारण का सुख क्योंकर वांछनीय है, सिवाय इसके कि प्रत्येक मनुष्य अपने सुख की (जहां तक कि वह उसकी जान में लभ्य दिखाई पड़ता है) इच्छा करता है। जब यह बात मान ली गई, तो इसके अतिरिक्त और किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्'। इस बात के सिद्ध करने के लिये जितने प्रमाणों की आवश्यकता है, वे सब ही आ गए हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिये उसका सुख ही श्रेय है। अतः सर्वसाधारण का सुख सब ही के लिये श्रेय है"।

मिल साहब की युक्ति का खंडन

यह युक्ति देखने में बहुत ही सीधी सादी मालूम पड़ती है किंतु जब इसे बिचार दृष्टि से देखते हैं, तब आश्चर्य होता है, कि तर्कशास्त्र के कर्त्ता पंडितवर मिल ने इतने थोड़े से वाक्यों में इतनी अधिक तार्किक भूलें किस प्रकार कर दीं! पहले तो सब लोग केवल सुख की वांछा नहीं करते। सुख के अतिरिक्त ज्ञानादि बहुत से ऐसे पदार्थ है जो किसी और वस्तु का साधन न होते हुए भी वांछित हैं, और यदि यह भी मान लिया जाय कि सब लोग, सुख ही की वांछा करते हैं, तो क्या वांछित और वांछनीय में कोई भेद नहीं? अंगरेज़ी शब्द Desirable मिल साहब ने एक स्थान पर

---

believes it to be attainable, desires his own happiness. This, however being a fact. we have not only all the proofs which the case admits of, but all which it is possible to require, that happiness is good to that person, and the general happiness therefore, a good to the aggregate of all persons.—Utiltarianism.

'वांछित' के अर्थ में और दूसरे स्थान पर 'वांछनीय' के अर्थ में लिया है। बहुत से पदार्थ जो वांछित हैं, वांछनीय नहीं। जैसे, पर-धन-हरण बहुतों को वांछित है, किंतु वांछनीय अथवा श्रेयस्कर नहीं समझा जा सकता। अस्तु, यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि हर एक मनुष्य के लिये उसका सुख वांछनीय है, तो इससे यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि सर्वसाधारण का सुख सब के लिये (व्यक्तितः) श्रेय है। यह तो इस प्रकार से होगा कि यदि कोई कहे कि हर एक आदमी को भरपेट खाना चाहिए; इस लिये सब आदमियों को (समष्टि रूप से) भोजन कर लेना चाहिए। अथवा दूसरा उदाहरण लीजिए। यदि किसी फ़ौज में सौ आदमी हैं और प्रत्येक जवान को ६ फुट का होना चाहिए तो क्या इससे यह सिद्ध हो सकता है, कि फौज के हर एक आदमी को ६०० फुट का होना चाहिए। जिस प्रकार हम यह नहीं मान सकते कि प्रत्येक मनुष्य को ६०० फुट का होना चाहिए, उसी प्रकार हम इस वाक्य से कि हर एक को अपना अपना सुख ईप्सित है, यह अनुमान नहीं कर सकते कि सब लोगों को सब का सुख ईप्सित है। इसमें भूल इस बात से पड़ जाती है, कि एक स्थान में तो 'सब' शब्द का अर्थ विभाजक रीति (Distributively) से, और दूसरी जगह समाहार रूप (Collectively) से लगाया गया है। इस विरोधाभास को अंग्रेज़ी भाषा में (Fallacy of Composition) अर्थात् समाहार संबंधी विरोधाभास कहते हैं। नीचे के श्लोकद्वय में एक उच्च प्रकार का उपयोगितावाद प्रतिपादित है, किंतु यह उपयोगितावाद आत्मौपम्य के आधार पर सिद्ध किया गया है। इस युक्ति में उपर्युक्त दोष नहीं आते। यह उपयोगितावाद

जैसा कि आगे दिखाया जायगा वेदांत-प्रतिपादित ऐक्यवाद के ही आधार पर सध सकता है।

प्राणा यथात्मनोभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दया कुर्वन्ति साधवः॥
प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति॥

इन श्लोकों में निज आत्मा को ही प्रमाण लेकर सबके साथ दया और उपकार करना बताया है। इस युक्ति के साथ यह अवश्य मानना पड़ेगा कि सब को संसार में स्थित रहने का बराबर अधिकार है। इस बात के लिये कोई बुद्धिमान पुरुष 'ना' नहीं कह सकता। यदि कहे, तो उसको ही संसार में स्थित रहने का क्या अधिकार ? जब सब को संसार में स्थित रहने का बराबर अधिकार है, तो किसी को दूसरे की स्थिति में बाधा न डालनी चाहिए।

मिल साहिब के उपयोगिता-वाद में इन तार्किक भूलों के अतिरिक्त और भी बहुत से दोष हैं। उनमें से केवल दो या तीन ही इस स्थान पर बताए जावेंगे। यदि

मिल साहिब के उपयोगिता-वाद में अन्य दोष

हम सुख-वादियों के साथ यह भी मान लें कि सुख श्रेय है, तो हमें इस बात के मानने का क्या प्रमाण है कि श्रेय के अंतर्गत सुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ? यदि हम यह कहें कि कवि लोग विद्वान् होते हैं, तो क्या विद्वानों की संज्ञा में कवियों के अतिरिक्त और कोई सुपठित पुरुष नहीं आ सकते हैं ? इसी प्रकार यदि सुख श्रेय है, तो क्या सुख के अतिरिक्त और कुछ श्रेय नहीं ? बहुत से लोग ऐसे हैं जो सुख दुःख का विचार न कर धर्म ही चाहते हैं।

इसके लिये मिल साहब का कहना है, कि पहले पहल तो सुख के अर्थ धर्म किया जाता है, फिर पीछे से भाव-साहचर्य्य नियम (Law of the association of ideas) के अनुकूल सुख को छोड़ कर लोग धर्म ही की इच्छा करने लगते हैं। जैसे कोई डाक्टर के कहने से किसी रोग के निवारणार्थ हुक्का पीने लगे और फिर रोग चले जाने पर भी हुक्का पीता ही जाय !

उपयोगिता-वाद के हिसाब से अधिकांश लोगों का अधिक सुख ही परम श्रेय है। अधिक सुख का क्या अर्थ है ? क्या सुखों की भी जोड़ बाकी हो सकती है ? सुखों का जोड़ सुख नहीं हो सकता। वह जोड़ ही होगा। सुख का अनुभव ही किया जाता है, जोड़ नहीं; और जब सब लोगों का एक सा सुख हो, तो उसका ऋण तथा धन भी किया जाय ! सुख कोई निरपेक्ष पदार्थ नहीं। सुख का अनुभव सब को एक सा नहीं होता। जो पदार्थ एक को सुखद होता, है वही दूसरे को दुःखद है। (One man's meat is another man's poison) *जिस बात की हमें इच्छा नहीं, उसके उपलब्ध हो जाने से हम को सुख नहीं हो सकता। नारद जी ने एक समय एक शूकर से पूछा था कि वह स्वर्ग को जाना चाहता है या नहीं ? शूकर ने उत्तर में पूछा कि स्वर्ग में विष्ठा मिलेगी या नहीं ? इस उदाहरण से स्पष्ट हो गया कि हम अपने परिमाण से अधिकांश लोगों का सुख नहीं चाह सकते। शायद जिसे हम सुख समझते हों, वह उनके लिये दुःख रूप हो ! फिर हम संसार में सुख-मात्रा को कैसे बढ़ा सकेंगे ? भिन्न रुचिवाले लोगों में एक ही पदार्थ सब को सुखदायक

---

* जो एक आदमी के लिये भोजन होता है, वह दूसरे के लिये विष होता है।

नहीं हो सकता। संसार में सुख की मात्रा बढ़ाने के पहले लोगों को सुधार कर उनमें उनके अनुभव करने की क्षमता पैदा करनी चाहिए। आज कल के मनोविज्ञान ने भी इस बात को भली भांति सिद्ध कर दिया है कि सुख हमारी क्रियाओं का लक्ष्य नहीं। यदि ऐसा होता, तो बहुत से कार्य संसार में न होते। बालक प्रथम अपनी माता के स्तनों को मुँह में न लेता, क्योंकि बिना एक बार दूध पिये उसे उसके आनंद का ज्ञान कहां से आता? कामना का आवेग हमें कार्य में प्रवृत्त कराता है। बहुत से ऐसे अवसर होते हैं जिनमें कि हम जान बूझ कर दुःख में पड़ना चाहते हैं। यदि यह कहा जाय कि हम भावी सुख के अर्थ थोड़ी देर का दुःख उठाने को तैयार हो जाते हैं, तो इससे इतना तो सिद्ध हो ही गया, कि तात्कालिक सुख प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य नहीं। इसके साथ ही एक प्रश्न उठ सकता है कि यदि सुख की इच्छा स्वाभाविक होने के कारण सुख सब को अभीष्ट है, तब फिर कोई तात्कालिक सुख को क्यों छोड़े? कहना पड़ेगा कि बुद्धि ऐसा बतलाती है। फिर भावी सुख के लिये प्रस्तुत सुख का छोड़ना हमारा सुखान्वेषण न होगा, वरन् अपनी बुद्धि का आज्ञा-पालन होगा। तो यदि बुद्धि का अनुकरण करना कर्त्तव्य मान लें तो क्या हानि है।

उपयोगितावाद के अनुसार अधिकांश लोगों को अधिकांश सुख की इच्छा करनी चाहिए। इसमें पहले तो यही प्रश्न उठता है कि अधिकांश लोगों की अपेक्षा थोड़े लोगों के सुख का क्यों परित्याग करना चाहिए? कभी कभी ऐसा होता है कि अधिकांश लोग ही भूल में होते हैं, और उनकी ईप्सित बात को कर देने से अल्प संख्यावाले लोगों को

अन्याय रीति से हानि पहुँच जाती है। एक बात और लीजिए, यदि हम ऐसी कल्पना करें कि एक समाज में केवल १० ही मनुष्य हैं, जिनमें से कि एक मनुष्य की सुख अनुभव करने की शक्ति साधारण लोगों से सदा दसगुनी से भी अधिक बढ़ी हुई है, तो क्या उस एक मनुष्य की तृप्ति करना अच्छा है, अथवा दसों आदमियों को थोड़ा खुश कर देना अच्छा होगा? उपयोगिता-वादियों के लिये यह कठिन समस्या होगी।

उपयोगितावादी आंतरिक भाव की अपेक्षा वाह्य परिणामों की ओर अधिक ध्यान देते हैं। बहुत से ऐसे अवसर आ जाते हैं जिनमें कि कोई काम बुरी नियत से किया जाता है, किंतु किसी कारण से वह काम समाज को लाभदायक हो जाता है और कभी कभी होम करते हाथ जल जाता है, अर्थात् काम तो अच्छी नियत से किया जाता है और उसका फल बुरा होता है। उपयोगिता-वाद के हिसाब से पहला काम दूसरे की अपेक्षा अधिक नैतिक मूल्य रखता है। यह ऊपर बताया जा चुका है कि हमारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्धारण का विषय हमारा आंतरिक भाव अथवा नियत है, न कि कार्य का परिणाम। किंतु उपयोगिता-वादी इस सिद्धांत को नहीं मानते।

बेनथम के प्रतिकूल मिल साहब ने सुखों में गुण-भेद माना है—कुछ ऊंचे दर्ज़े के और कुछ नीचे दर्ज़े के। यदि इस भेद का मूल सुख ही की मात्रा है, तो उसको गुण-भेद न कह कर परिणाम-भेद कहना चाहिए और जो यह भेद का मूल सुख के अतिरिक्त कुछ और वस्तु है, तो सुख-वाद को तिलांजलि देनी चाहिए। यदि एक सुख दूसरे सुख की अपेक्षा अधिक वांछनीय है, तो उसमें कुछ विशेषता अवश्य

है। वह विशेषता ही हमारी कामना का लक्ष्य हो जायगी और सुख गौण हो जायगा। और यदि सुख को प्रधान मानते हैं, तो सब ही सुख बराबर होंगे! मिल साहब की पुस्तक पढ़ने का सुख और गधे का धूल में लोटने का सुख बराबर ही हो जायँगे! मिल साहब ने सुखों में भेद कर के सुख के अतिरिक्त एक और ही निर्णायक मान लिया है। वह निर्णायक बुद्धि है।

उपयोगितावाद की उपयोगिता

इस दोष-निरूपण से पाठकगण यह न समझ लें, कि उपयोगिता-वाद नितांत भ्रांत एवं अनुपयोगी है। साधारण लोगों के लिये बहुत से अवसरों पर इससे अच्छा और कोई कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णायक नहीं मिलता। इसको मान कर बहुत सी कठिनाइयां दूर हो जाती हैं, किंतु वह सर्वथा श्रेय नहीं। बहुत सी राजनैतिक उन्नतियां उपयोगिता-वाद के ही आधार पर हुई हैं। आज कल भी राजनैतिक आंदोलन करने-वाले उपयोगिता-वाद का ही आश्रय लेते हैं। सर्कारी आइन की भलाई बुराई जांचने में उपयोगिता-वाद से बड़ी सहायता मिलती है। उपयोगिता-वाद का बाहरी परिणाम प्रायः अच्छा ही होता है। पर उपयोगिता-वाद के दोष दूर कर के उसको दृढ़ आधार पर रखना आवश्यक है।

भारतवर्ष में उपयोगितावाद के उदाहरण

उपयोगिता का परिमाण हमारे यहां भी कई स्थानों में लगाया गया है, किंतु जिनके लिये वह लगाया गया था, वे साधारण लोग नहीं थे। श्रीरामचंद्र जी को अयोध्या में लौटा लाने के लिये उपयोगिता-वाद का ही सहारा लिया गया था। उनके वहां चले जाने में अधिकांश लोगों को अवश्य सुख होता, किंतु रामचंद्र ने अपने कर्त्तव्य के

आगे उस उपयोगिता-वाद को उपयोगी न समझा। रघुवंश के दूसरे सर्ग में सिंह ने महाराज दिलीप को भी उपयोगिता-वादियों की ही युक्ति दी है—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥
भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत् स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन् पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि॥

महाराज दिलीप ने भी इस उपयोगितावाद की कसौटी को नहीं माना। यद्यपि कर्त्तव्य और उपयोगिता का कोई नैसर्गिक विरोध नहीं है, तथापि हमारा कर्त्तव्य केवल उपयोगिता से उच्चतर है। बीसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध तत्ववेत्ता क्रॉची (Croce), जिनका मत अंत में बतलाया जायगा, ऐसा ही कहते हैं। उन्हों ने भी अर्थ (Economic) और धर्म (Ethics) की इसी प्रकार एकता की है। हमारे देश में धर्म, अर्थ और काम तीनों ही को 'त्रिवर्ग' कह कर एक साथ रखा है।

उपयोगितावाद से राजनीति और समाज को बड़ा भारी लाभ हुआ किंतु धर्म का परिमाण राजनीति के परिमाण से

---

* अर्थ—हे राजन्! तुम समस्त पृथ्वी को शासन करनेवाले हो। उमर भी तुम्हारी नई है। शरीर भी तुम्हारा बहुत सुंदर है। अतः थोड़े के अर्थ बहुत का नाश करने की इच्छा रखनेवाले तुम मुझे विचारमूढ़ मालूम होते हो। यदि तुम भूतदया के ही पक्षपाती हो तो तुम्हारे नाश से केवल गौ की रक्षा होगी और यदि जीते रहोगे तो चिरकाल पिता की नाईं प्रजा का दुःख हरण करते रहोगे।

उपयोगितावाद का असली तत्त्व

कुछ ऊँचा है; वैसे चाहिए तो यही कि राजनैतिक परिमाण भी धार्मिक परिमाण की बराबर ऊंचा हो जाय। धार्मिक और राजनैतिक परिमाण की समता करने के लिये यह आवश्वक नहीं है कि धार्मिक परिमाण घटा दिया जाय, वरन् राजनैतिक परिमाण ही को ऊँचा करना चाहिए। उपयोगिता-वाद की प्रशंसा इस अर्थ की जाती है कि उसने अधिकांश लोगों के हित की ओर ध्यान दिया, न कि इसलिये कि उसमें सुख को हित माना है। हमारे देशवासियों ने इसी लिये, उपयोगिता-वाद में जो मूल्यवान पदार्थ था, उसे नहीं छोड़ा। गीता में 'सर्वभूतहिते रताः' वाक्य आया है। सर्व की बड़ी महिमा है। मिल आदि उपयोगिता-वादियों के, वेदांतियों के समान, आत्मा के विषय में विस्तृत विचार न थे। इसी कारण उनको सर्वहित के लिये प्रमाण देने में भूलें करनी पड़ीं। किंतु बड़े आदमी की भूल से भी बड़ी शिक्षा मिल जाती है। यदि ऐसी भूल न की जाती तो उपयोगिता-वाद का वास्तविक तत्व न मालूम होता। हमारे देश के लोगो ने (विशेष कर वेदांतियों ने) इस सार को पकड़ लिया है। भर्तृहरि जी कहते हैं, 'स्वार्थों यस्य परार्थ एव स प्रमाने कः सतामग्रणीयः' अर्थात् परार्थ ही जिसका स्वार्थ है वही सब साधु पुरुषों में अग्रगण्य है। किंतु हमारे यहां परार्थ को दूसरे का सुख अथवा अपना सुख नहीं माना है। गीता में सर्वभूत-हित चाहना श्रेय बताया है और जहां पर सुख की बात आई है, वहां आध्यात्मिक सुख ही अभिप्रेत है। जब प्राणियों की एकता मान ली, तब स्वार्थ और परार्थ में भेद नहीं रहता और परोपकार भी स्वार्थ की भांति स्वाभाविक हो जाता है।

बीसवीं शताब्दी में कृत्यवाद (Pragmatism) के कारण उपयोगिता-वाद की और भी महिमा बढ़ गई। उन लोगों ने उपयोगिता-वाद को तत्वज्ञान में भी लगाया है। उन्होंने उपयोगिता को ही सत्य का निर्णायक माना है। किंतु उन लोगों ने उपयोगिता का अर्थ अधिकांश लोगों का अधिक सुख नहीं माना, वरन् अधिकांश लोगों की चाह की तृप्ति या तुष्टि (Satisfaction of demands) को सत्य का निर्णायक माना है। उन लोगों के मत में अधिकांश लोगों की चाह की अधिक से अधिक तृप्ति ही कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का निर्णायक है। कृत्यवाद के मुख्य व्याख्याता अमेरिका के सुविख्यात तत्ववेत्ता विलियम जेम्स (William James) (१८४२-१९१०) साहिब ने अपनी शिक्षापूर्ण पुस्तक 'विल टू बिलीव' (Will to believe) में कर्त्तव्याकर्त्तव्य संबंधी तीन प्रश्न उठाए हैं। पहला प्रश्न मनोविज्ञान से संबंध रखता है। वह यह है कि कर्त्तव्या-कर्त्तव्य-बुद्धि नैसर्गिक है अथवा अनुभव-प्राप्त? इस विषय में जेम्स ने उन्हीं लोगों से सहृदयता प्रकाशित की है जो कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य बुद्धि को अनुभवप्राप्त मानते हैं। दूसरा प्रश्न तत्वज्ञान-संबंधी है। वह प्रश्न कर्त्तव्याकर्त्तव्य के परिमाण की वास्तविक सत्ता के विषय में है, अर्थात् धर्म की सत्ता मनुष्य समाज से निरपेक्ष कहीं और है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर भी पूर्ववत् वे यही देते हैं कि मनुष्य समाज के अतिरिक्त धर्म की कोई स्वाधीन निरपेक्ष वास्तविक सत्ता नहीं है। तीसरा प्रश्न स्वयं निर्णायक अथवा परिमाण ही के विषय में है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णायक क्या है? यही

कृत्यवाद
Pragmatism.

कर्त्तव्य-शास्त्र का मुख्य प्रश्न है। इसके संबंध में जेम्स साहब कहते हैं कि यदि हम कर्त्तव्य का भार अपने ऊपर मानते हैं, तो इसके साथ कोई भार रखनेवाला होना चाहिए और वह भार रखनेवाला हमारे ऐसा ही जीता जागता मनुष्य होना चाहिए। अर्थात् यदि एक ओर भार है, तो दूसरी ओर कोई इस बात का चाहनेवाला भी हो कि यह भार पूरा हो। उपयोगितावाद के खंडन में यह बात बताई जा चुकी है कि चाह के बिना सुख नहीं हो सकता। सुख से पहले चाह है।

विलियम जेम्स ने इस बात को भली भांति सिद्ध कर दिखाया है कि क्रिया और कर्त्तव्य का मूल चाह है। जहां चाह नहीं, वहां कुछ कर्त्तव्याकर्त्तव्य नहीं। भला बुरा कोई निरपेक्ष पदार्थ नहीं। यदि संसार भर में एक ही मनुष्य हो तो उसे अपनी रक्षा के सिवाय और कुछ कर्त्तव्य न रहे, नहीं नहीं, शायद अपनी रक्षा भी उसे बुरी मालूम पड़ने लगे। दूसरों की तथा अपनी चाह के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने से किसी कार्य का धार्मिक मूल्य निर्धारित किया जाता है। वैसे तो जैसी कि कहावत है, कि 'बन में मोर नाचा, किसने जाना?' जिस कार्य की किसी को चाह नहीं, वह न तो बुरा ही है न भला ही। दान देना भला है, किंतु जिसे धन की चाह नहीं, उसको धन देने से क्या लाभ? अथवा जाड़ों में बरफ के जल की प्याऊ बिठालने से कौन सा पुण्य होगा? यह बात तो मान ली गई कि कर्त्तव्य किसी न किसी की चाह की तुष्टि में है, किंतु प्रश्न यह है कि किस किस की चाह की तुष्टि की जाय? चोर तो यह चाहता है, कि मुझे धन मिले और साधु चाहता है कि मेरा धन सुरक्षित रहे। जब दो दलवाले आपस में लड़ते हैं, तब वे एक दूसरे के नाश करने पर

उतारू हो जाते हैं। गाहक मद्दे से मद्दे भाव पर दूसरे से माल को खरीदना चाहता है और बेचनेवाला अधिक लाभ उठाना चाहता है। पुरानी रोशनी के लोग कहते हैं कि देश में अकाल, बीमारी और निर्धनता नये आदमियों की नई नई चाल ढाल ही के कारण है, इस लिये जहां तक हो सके, नई चालने की बातें बढ़ने न पावें; और नई रोशनीवालों का यह ख्याल है कि जितनी जल्दी हो सके जाति पांति के बंधन, पुरानी रीति और रिवाज उठ जायँ, नहीं तो भारतवर्ष का उद्धार कदापि नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में कर्त्तव्य-परायण तत्व-वेत्ता का क्या धर्म होगा। सब परस्पर-विरोधी इच्छाओं की एक साथ तृप्ति नहीं हो सकती। * विलियम जेम्स कहते हैं, कि यह संसार सब की इच्छाओं को पूरी करने के लिये बहुत गरीब है। इसलिये उन इच्छाओं का पूरा करना धर्म है, जिनके पूरे होने से अधिकांश लोगों की इच्छा की तृप्ति हो सके। वेही कार्य श्रेय अथवा कर्त्तव्य समझे जायँ, जिनके द्वारा अधिक से अधिक लोगों की तुष्टि हो सके। कर्त्तव्यशील पुरुष को अपनी इच्छाएँ ऐसी बनानी चाहिएँ, जिनके तृप्त होने से अधिकाधिक लोगों की इच्छा तृप्त होती रहे। पंच

---

* Since every thing which is demanded is by that fact a good, must not the guiding principle for ethical philosophy (since all demands conjointly can not be satisied in this poor world) be simply to satisfy as many demands as we can. That act must be the best act, accordingly; which makes for the best *whole* in the sense of awakening the least sum of dissatisfaction.

—The will to believe, page 205.

कहें बिल्ली, तो बिल्ली ही सही! जेम्स साहब भी इसी न्याय के पक्षपाती हैं। इस मत से कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णायक की निरपेक्षता जाती रहती है। जैसे जैसे समाज के लोगों की इच्छाओं और रुचियों में अंतर आता गया, वैसे ही कर्त्तव्य का परिमाण भी बदलता गया। भिन्न भिन्न श्रेणी की समाज के लिये भिन्न भिन्न कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णायक हैं। इतिहास भी इस बात को पुष्ट करता है, कि कर्त्तव्य का परिमाण समय समय पर भिन्न भिन्न देशों में बदलता रहा है। "Rules are made for men and not men for rules" अर्थात् नियम मनुष्य के लिये बनाए जाते हैं, न कि मनुष्य नियमों के लिये। ग्रीन (Green) साहब के उपरोक्त वाक्य को जेम्स साहब ने कर्त्तव्य-परिमाण की सापेक्षता के समर्थन में उल्लिखित किया है।

कृत्यवाद के गुण-दोष

यह मत मिल के उपयोगितावाद से अधिक युक्तियुक्त है और इसमें बहुत सी कठिनाइयां भी बच गई है, तथापि यह मत दोषशून्य नहीं और इसके द्वारा शायद अधिकांश लोगों की तुष्टि (जो सत्य और कर्त्तव्य की निर्णायक है) न हो सकेगी। सब से पहले तो यह विचारणीय है कि प्रत्येक इच्छा की तृप्ति श्रेय वा इष्ट क्यों है? यदि कोई बीमार आदमी दवा न पी कर खुले बदन हवा में फिरना चाहे तो क्या इस इच्छा को पूरा करना लाभदायक है? कहा जायगा कि इस इच्छा की तृप्ति में बीमार का हित नहीं है। फिर 'हित' इष्ट रहा या इच्छा की 'पूर्ति'? यह प्रश्न दूसरी रीति से भी किया जा सकता है, क्या सब इच्छाओं के पूरे होने का एक सा नैतिक अधिकार है? क्या चोर और साव की इच्छाएँ एक

ही धार्मिक मूल्य रखती हैं? यदि ऐसा नहीं, तो सब या अधिक से अधिक इच्छाओं को तृप्त करने की जेम्स साहब को क्या फिकर पड़ी? और यदि दोनों का धार्मिक मूल्य बराबर है, तो चोर क्यों दंडनीय ठहराया जाय? क्या केवल इसी लिये, कि उसकी इच्छा से अधिकांश लोगों की इच्छा की तृप्ति न होगी? इसका संतोषजनक उत्तर नहीं दिया गया कि दूसरों की चाह को पूरा करना क्यों धर्म है? अपनी चाह की अपेक्षा दूसरे की चाह को क्यों श्रेष्ठता मिल सकती है, विशेष कर जब कि सब की चाहों का नैतिक मूल्य बराबर है? यदि ऐसी कल्पना की जाय कि संसार में केवल एक ही मनुष्य है और उसके पास एक हीरा है (जेम्स साहब स्वयं एक और दो मनुष्य वाले संसारों की कल्पना कर चुके हैं)। अब एक दूसरे मनुष्य की भी उत्पत्ति हो गई और इसने वह हीरा छीन लिया। जेम्स साहब के मतानुसार यह कार्य क्या कहा जायगा? जहां पर किसी बात के चाहनेवाले दोनों दलों की संख्या बराबर हो, तो क्या उन चाहों की पूर्ति धार्मिक संसार से बाहर हो जायगी? यदि संसार में अधिक लोगों की चाह की पूर्ति ही श्रेय समझी जाती, तो यहां समाज-सुधार की कहीं गुंजाइश ही न रहती। स्वयं जेम्स साहब भी मानते हैं कि समाज-सुधार में थोड़ा वैषम्य उत्पन्न करने के लिये सुधारक लोग दोषभागी नहीं। मार्टिन लूथर, महात्मा बुद्ध, श्रीशंकराचार्य आदि बड़े बड़े सुधारकों ने थोड़ी बहुत असाम्यता अवश्य फैलाई, अधिकांश लोगों की इच्छा के विरुद्ध किया, तो क्या इन लोगों के कार्य इस धार्मिक परिमाण के अनुसार हलके समझे जायँगे? स्वयं ईसा ने भी कहा है कि 'मैं सुलह कराने नहीं आया, लड़ाई कराने को आया हूँ। भाई भाई को अलग

करने को आया हूँ' अर्थात् लोगों की चाहों में असाम्यता उत्पन्न करने को आया हूँ।" क्या प्रभु ईसा मसीह भी इस नैतिक परिमाण के अनुकूल दोषी ठहराने योग्य हैं? इन लोगों को दोषी ठहराने में जेम्स साहब अवश्य संकोच करेंगे। इससे सिद्ध होता है कि इच्छाओं की संतुष्टि की संख्या मात्र ही कर्त्तव्य की निर्णायक नहीं, वरन् इच्छाओं में भी ऊंची-नीची, भली-बुरी का भेद है। यह भेद करना बुद्धि का ही काम है। अतः कर्त्तव्य के निर्णायक में बुद्धि को अवश्य स्थान देना पड़ेगा। अगले अध्याय में विकाशवाद ने जो उपयोगिता वाद में परिवर्तन किए हैं, उन पर विवेचना की जायगी।

सातवाँ अध्याय।

विकाशात्मक सुखवाद।

(Evolutionary Hedonism)

यद्यपि हमारे देश में † तथा अन्य देशों में विकाशवाद के मूल सिद्धांत पहले से ही बीज रूप से वर्तमान हैं, तथापि उसके नियमों को खोज कर उनको ठीक स्वरूप देने की बड़ाई डार्विन साहब (Charles Darvin) (१८०६-१८८२) को ही दी जानी चाहिए। चार्ल्स डार्विन के समय से विकाश की बहुत उन्नति और प्रचार हुआ है। विकाशवाद के सिद्धांतों के आविष्कार में डार्विन साहब के साथ एलफ्रेड रस्सेल वालिस (Alfred Russell Wallace) का नाम आता है। समाज-शास्त्र, अक्षर-विज्ञान, इतिहास,

विकाशवाद के सिद्धांतों का विस्तार।

---

† तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नं अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः।—तैतिरीय०

तम आसीत्तमसा गूढ़ मग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम्।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन् महिम्ना जायतैकम्॥ ऋग्वेद।

आकाशाज्जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः।
आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः॥
वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूप गुण मुच्यते॥
ज्योतिषश्च विकुर्वाणा दापो रसगुणाः स्मृताः।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टि रादितः॥—मनुस्मृति अ० १

भूगोल खगोल आदि सब ही में विकाशवाद के सिद्धांत लगाए जाते हैं। अब देखना चाहिए, कि कर्त्तव्य-शास्त्र के सिद्धांतों में विकाशवाद के सिद्धांत किस प्रकार लगाए जा सकते हैं? अथवा उनसे कर्त्तव्य-शास्त्र को क्या सहायता मिल सकती है?

पूर्व सुखवादियों के दोष और उनका सुधार विकाशवादियों ने किस प्रकार किया।

गत अध्याय में पाठकगण देख चुके हैं कि पूर्व वर्णित सुखवादियों को स्वार्थ और परार्थ के मिलान करने में कितनी कठिनाइयां पड़ीं? इन सब का मूल कारण व्यक्ति और समाज के घनिष्ठ संबंधों और आत्मा के यथार्थ स्वरूप की अनभिज्ञता थी। सुखवादियों की असफलता का कारण यह था कि वे लोग सुख दुःख को निरपेक्ष समझते थे। उनकी दृष्टि में सुख दुःख की जोड़ बाकी हो सकती थी। वे क्रय-विक्रय का विषय बन गए थे। दूसरे, मनुष्य जीवन का सुख से क्या संबंध है, इस बात की ओर भले प्रकार से ध्यान नहीं दिया गया। तीसरी बात, जो पहले लोगों के विचार में नहीं आई थी, यह है, कि समाज स्थिर नहीं। समाज वृक्ष की नाईं बढ़ता है। उसके ही साथ लोगों की कर्त्तव्य-पालन की क्षमता बढ़ती जाती है, और उसके साथ ही सुख दुःख का मूल्य भी बढ़ता है। इन सब बातों पर विकाश-वाद से नई झलक पड़ गई। विकाश-वाद ने समाज-संबंधी विचारों में बड़ा परिवर्तन किया है, उसने समाज और व्यक्ति की अन्योन्याधीनता साबित कर उनका ऐन्द्रिक संबंध सिद्ध किया है। जिस प्रकार हाथ आंख की स्थिति शरीर की स्थिति पर निर्भर है, उसी प्रकार समाज और व्यक्ति का संबंध है। हमारे यहां भी संसार को वृक्ष तथा ईश्वर को

उसका मूल कह कर व्यष्टि-समष्टि का तथा ईश्वर का अन्यो-न्याश्रय संबंध सिद्ध किया गया है (गीता १५-१.) और जो शास्त्रों में ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादि वाक्यों द्वारा चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति बताई है, वहां पर भी ऐंद्रिक संगठन का विचार प्रधान है। इस प्रकार से समाज का संगठन मानने पर स्वार्थ परार्थ की समस्या नहीं रहती। स्वार्थ तब ही तक है, जब तक कि व्यक्तियों को एक दूसरे से भिन्न और स्वाधीन मानें।

सुख को विकाश-वादी लोग समाज में जीवन-वृद्धि अथवा व्यक्ति के स्वास्थ्य का फल और उसका सूचक भी मानते हैं। विकाश-वाद के माननेवाले सुख-वादी हैं, किंतु उनके मत में हमारी कामना का अपरोक्ष लक्ष्य (Immediate end) नहीं। मनुष्य की कामनाओं को अपरोक्ष लक्ष्य व्यक्ति और उसके वहिरावेष्टन (Environment) का सामंजस्य, व्यक्ति का स्वास्थ्य अथवा उसकी कार्य-क्षमता है। सुख इन्हीं का फल रूप है।

विकाशवादियों के मत से समाज स्थायी नहीं है। समाज की उपमा शरीर वा वृक्ष से दी गई है। जिस प्रकार शरीर बढ़ता है, उसी प्रकार समाज भी बढ़ता है। बढ़ते हुए समाज में लोगों की रुचि और चाह भी बदलती रहती है। उसके अनुकूल मनुष्य के सुख दुःख संबंधी बिचार भी बदलते रहते हैं। केवल सुख दुःख को ही कर्त्तव्य का अंतिम निर्णायक न मान कर उसके साथ साथ हम को लोगों की बदलती हुई रुचि और चाह के ऊपर भी ध्यान देना चाहिए।

कर्त्तव्यशास्त्र को जो विकाश-वाद से मदद मिली, वह सामान्य रूप से बता दी गई। अब हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer)

तथा लेसली स्टीफिन (Leslie Stephen) के मत का विशेष रूप से निरूपण किया जायगा।

स्पेंसर साहब (१८२०-१६०३) के कर्त्तव्य-शास्त्र संबंधी विचार योरोपीय दर्शन से उल्लेख करके दिए जाते हैं। "जिस आचरण को अच्छा बुरा कह सकते हैं, वही आचार शास्त्र का विषय है। उद्देश्य के अनुरूप व्यापार को आचार कहते हैं। अपना जीवन, संतान का जीवन और सामाजिक जीवन जिससे पूर्णता को पहुँचे, उस उद्देश्य का पूर्ण करना ही आचार शास्त्र का मुख्य लक्षण है।

हर्बर्ट स्पेंसर साहब का मत

जीवन में सदा भीतरी संबंधों का बाहिरी संबंधों से मिलान होता रहता है, अर्थात् जीवधारी अपने को सदा अपने बहिरावेष्टन (Environment) के अनुकूल बनाने का यत्न करते रहते हैं। जो कर्म इस अनुकूलता को बढ़ाते हैं, वे अच्छे हैं और जो इसे घटाते हैं, वे बुरे हैं। इस अनुकूलता के बढ़ने से सुख होता है और उसके घटने से दुःख। किसी आचरण की उत्तमता की परीक्षा के लिये यह आवश्यक है, कि उससे अनुष्ठान प्रयुक्त दुःख की अपेक्षा फलीभूत सुख अधिक है वा कम .... स्वार्थ और परार्थ दोनों पृथक होने से अनर्थकारक हैं। दोनों में मेल होने से आचार में उन्नति होगी। सब से पहले स्वार्थ-प्रयुक्त कलह होती है, फिर प्रत्येक का स्वार्थ परस्पराधीन देखकर मनुष्य प्रेम-मय जीवन पसंद करते हैं।" इसके अतिरिक्त यहाँ पर यह और कह देना उचित होगा कि स्पेंसर साहब ने कर्त्तव्य-शास्त्र के सापेक्ष और निरपेक्ष रूप से दो विभाग कर दिए हैं।

कर्त्तव्य-शास्त्र की इस व्याख्या से जीवन की बहुत सी

उलझी हुई ग्रंथियों के खुलने की संभावना है, किंतु यह मत दोषरहित नहीं। व्यक्ति और वहिरावेष्टन की अनुकूलता को बढ़ाना स्पेंसर साहब कर्त्तव्य का लक्ष्य मानते हैं। अनुकूलता तीन प्रकार से होती है। एक तो ऊँचे को काट छाँट कर नीचे के बराबर कर देना और एक नीचे को किसी प्रकार बढ़ा कर ऊँचे के बराबर ले आना, और एक और भी रीति है, कि भेद की ओर ध्यान ही न दिया जाय। यदि पहले प्रकार की अनुकूलता स्पेंसर साहब चाहते हैं तो उन्नति की आशा से हाथ ही धो बैठना चाहिए। दूसरे प्रकार की अनुकूलता मानने में भी एक तरह की बाधा आती है। नीचे की खींच खाँच कर अनुकूलता स्थापित हो गई, (इस अवस्था को स्पेंसर साहब ने सर्वोत्तम माना है। इसी अवस्था में निरपेक्ष कर्त्तव्यशास्त्र के नियमों का पालन हो सकता है) तब फिर क्या उन्नति का काम बंद हो जायगा? सच तो यह है कि अनुकूलता का न होना ही उद्योग का मूल है। मरने पर संसार और व्यक्ति में कुछ झगड़ा नहीं रह सकता। क्या यही अनुकूलता की दशा वांछनीय है? फिर जीवन की अधिकता (More life) जो स्पेंसर साहब चाहते है वह कहां से आवेगी? यदि स्पेंसर साहब तीसरी प्रकार की अनुकूलता मानें, तो भी वह उन्नति से हाथ धो बैठेंगे। इस अवस्था में मनुष्य पत्थर से भी गया बीता हो जायगा। स्पेंसर साहब ने यह भी नहीं बतलाया कि कमी किस ओर है? व्यक्ति की ओर, अथवा उसके चारों ओर के समाज तथा तात्कालिक प्राकृतिक अवस्था में? अपने को दूसरे के अनुकूल बनाना किस का कर्तव्य है? साधारण मनुष्य नहीं, तो बड़े आदमी

स्पेंसर साहब के मत पर विचार

अवश्य अपने इर्द गिर्द के लोगों तथा प्राकृतिक अवस्थाओं से ऊँचे चढ़े हुए होते हैं। प्रत्येक अवस्था में यह मानना ही पड़ेगा कि छोटे को अथवा विकाश की श्रेणी में नीचे को बड़े अथवा ऊपरवाले के अनुकूल बनाना पड़ेगा, नहीं तो उन्नति ही किस बात की? इस पर यह शंका उत्पन्न सकती है कि वह परिमाण कहां पर है, जिसके अनुसार हम ऊँचे नीचे, छोटे बड़े की निर्धारणा करते हैं? वह परिमाण अवश्य निरपेक्ष होगा। स्पेंसर साहब कहेंगे, कि विकाश की गति को देख कर यह नियम निर्धारित कर लिया गया है कि जो विकाशवाद के नियमों के अनुकूल है, वही ऊँचा है। स्पेंसर साहब को पहले यही मानने का क्या अधिकार है, कि विकाश की गति ठीक ओर जा रही है। उनके हिसाब से तो विकाश किसी जानकार ईश्वर की प्रेरणा का फल नहीं है। केवल इत्तिफाक की बात है, कि विकाश का झुकाव वर्तमान रीति पर हो गया। यह कौन सा परिमाण है जिसके द्वारा हम ने विकाश की गति को ठीक बताया? यदि ऐसा कोई परिमाण है, तो हम उस ही को क्यों न माने?

स्पेंसर साहब जीवन की अधिक मात्रा चाहते हैं (increase in the length & breadth of life) उसके साथ ही साथ उन्होंने सुख-वादियों का आदर्श नहीं छोड़ा *। वह

---

* Pleasure somewhere, at sometime, to some being or beings is an inexpungible element in the conception. It is as much a necessary form of moral intuition as space is a necessary form of intellectual intuition.

Data of Ethics.

मानते हैं, कि सुख किसी न किसी प्रकार का, किसी न किसी जीव को, किसी न किसी समय पर श्रेय के विचार से बाहर नहीं माना जा सकता। सुखवादियों की तो भूल पाठकों को पहले ही भली भांति प्रगट हो चुकी है। अब यह देखना चाहिए कि सुख का विचार जीवन की अधिकता से कहां तक मेल खा सकता है? सब से पहले तो स्पेंसर साहब को (यदि वह सुख और जीवन की अधिकता दोनों ही चाहते हैं) एक बड़े विवाद के विषय को, कि जीवन सुखमय है अथवा दुःखमय, निर्विवाद मान लेना पड़ेगा। स्पेंसर साहब का कहना है, कि संसार के सब ही लोग सर्वसुख-वादी (Optimists) या सर्वदुःख-वादी (Pessimists) हैं, और दोनों ही दल के लोग संसार को भला बुरा सुख के होने न होने पर निर्भर मानते हैं। पहले तो इसी बात में संदेह है कि सब लोगों को दो दलों में बाँट सकते हैं? अस्तु यदि मान भी लिया जाय, तो इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि सब लोग सुख चाहते हैं। शायद इससे अधिक स्पेंसर साहब सिद्ध भी नहीं करना चाहते हैं। यदि यह मान लिया जाय कि सब लोग सुख चाहते हैं तो इससे यह सिद्ध होता है कि संसार सुखमय है? लोग जो चाहते हैं, वह क्या वास्तव में हुआ भी करता है? हम सर्वदुःख-वादी नहीं, किंतु जैसे स्पेंसर साहब ने सर्व-सुख-वाद को स्वयंसिद्ध मान लिया है, उस तरह हम मानने को तैयार नहीं। दूसरी बात इसके साथ यह है कि सुख की मात्रा जीवन के अधिक विकाश को प्राप्त होने से कहां तक बढ़ती है। सभ्यता के बढ़ने से सुख की मात्रा अधिक नहीं बढ़ती। सुख मानसिक अवस्था पर निर्भर है, न कि बाहिरी सामान पर! क्या आजकल की

सभ्यतावाले उन लोगों के सुख की बराबरी कर सकते हैं, जो बन में निर्द्वंद्व हो विचरते हैं। सभ्यता से चिंताएँ बढ़ती हैं और चिंताओं से दुःख होता है। स्पेंसर साहब या तो विकाश पाए हुए जीवन ही को अपना लक्ष्य बना लें और या सुख ही को। हम यह नहीं कहते कि दोनों बिल्कुल एक दूसरे के विरुद्ध हैं। यदि वे एक दूसरे के विरुद्ध नहीं, तो एक दूसरे पर निर्भर भी नहीं कि दोनों की बढ़ती घटती साथ साथ होती रहे। सुख की अधिकता वा न्यूनता बाहिरी सामान पर निर्भर नहीं। सुख चाहों की तुष्टि पर निर्भर है। जिसकी अधिक चाहें हैं और उनकी यदि तुष्टि नहीं की तो वह सुखी नहीं कहा जा सकता, और यदि किसी की थोड़ी चाहें हैं और उनकी तुष्टि हो गई, तो वह सुखी है कहा जाता है, कि सिकंदर बादशाह इस लिये रोया था कि उसके लिये और मुल्क फ़तह करने को नहीं थे और डायोजिनीज़ को, जो कि एक टब में पड़ा रहता था, सिकंदर से भी कुछ मांगना न था। जब सिकंदर ने उसके पास जा कर पूछा, कि कहो आपको कुछ मुझसे चाहना तो नहीं? डायोजिनीज़ ने केवल इतना ही कहा कि, "मिहरबानी कर के सामने से हट जाइए, धूप आने दीजिए"। अब इन दोनो में कौन ज़्यादह सुखी था? यदि केवल सुख ही सुख की ओर ध्यान दिया जाय तो डायोजिनीज़ सिकंदर से ज़्यादह सुखी था और विकाशवाद के हिसाब से सिकंदर का जीवन अधिक विकाश को प्राप्त हो चुका था। स्पेंसर साहब कौन से जीवन के लिये चेष्टा करेंगे?

अब देखना चाहिए कि लेज़ली स्टीफ़िन और एलेग्ज़ैंडर (Pro. Alexander) आदि अन्य विकाशवादी पंडितों का

कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में क्या मत है? स्पेंसर साहब का नैतिक आदर्श निरपेक्षता की ओर झुकता है। इसी कारण उनको कर्त्तव्य-शास्त्र के निरपेक्ष और सापेक्ष दो भेद मानने पड़े हैं। वे एक ऐसी अवस्था मानते हैं कि जिसमें व्यक्ति और उसके वहिरावेष्टन (Environment) में पूर्ण अनुकूलता स्थापित हो जायगी और किसी प्रकार का नैतिक झगड़ा नहीं रहेगा।

सर लेज़ली स्टीफ़िन

सर लेज़ली स्टीफ़िन इस प्रकार का मनोमय भव्य भवन निर्माण नहीं करते, न निरपेक्ष आदर्श को ही सामने रखते हैं। वे स्वास्थ्य और कार्य-कौशल ही के विचार से संतुष्ट हो जाते हैं। इनका कहना है कि कर्त्तव्यशास्त्र के नियम वह अवस्था बतलाते हैं जिसमें कि समाज कुशल-पूर्वक रह सके।* वह समाज के किसी अंतिम लक्ष्य की विवेचना नहीं करते, केवल यह चाहते हैं कि समाज का वर्तमान साम्य स्थापित रहे और जहां तक हो सके बढ़ता भी रहे। वे स्पेंसर साहब की भांति अधिक सामंजस्य नहीं खोजते। एलेग्ज़ैंड़र साहब का मत भी लगभग ऐसा ही है।

प्रोफ़सर एलेग्ज़ेंडर

किंतु इनके मत में यह विशेषता है कि इन्होंने विकाशवाद के नियमों को मनुष्य की मनोवृत्तियों में घटाया है। समाज और व्यक्ति में परस्परानुकूलता स्थापित करना, इनका मुख्य उद्देश्य नहीं, किंतु यह महाशय चाहते हैं कि मनुष्य परस्पर विरोधिनी मानसिक वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करे। जो कार्य इस मानसिक साम्य को

---

* A moral rule is a statement of a condition of social welfare. (Science of Ethics).

स्थापित करने में सफल हों, वेही श्रेय कहे जा सकते हैं।* डारविन साहब द्वारा निर्धारित किया हुआ प्राकृतिक चुनाव का नियम प्रोफेसर ऐलेग्जेंडर ने आचारों में बहुत योग्यता से लगाया है। जिस प्रकार जीवन-संग्राम (Struggle for existence) में योग्यतम ही अवशेष रहता है, और सब नाश हो जाते हैं, उसी प्रकार उत्तम आचार नीचे दर्जे के आचारों पर विजय लाभ कर स्थित रहेंगे। आचार संबंधी संसार में सबल और निर्बल व्यक्तियों के झगड़े की जगह आदर्शों की प्रतिद्वंद्वता होती है, और वेही आदर्श अवशेष रहने पाते हैं, जो समाज के सकुशल रहने में योग देते हैं। आदर्शों की इस जय-पराजय में मारकाट नहीं होती है, और न रुधिर की नदियां बहती हैं। युक्ति और उपयोगिता द्वारा लोगों के मन पर प्रभाव पड़ना ही जयलाभ है। उत्तम आचार अपने प्रतिद्वंद्वियों पर जय प्राप्त कर समाज में प्रचार पाकर बढ़ते रहते हैं। इसी रीति से संसार में उत्तमोत्तम आचारों की उत्पत्ति और वृद्धि होतीं आई है। यह आचारों की उत्पत्ति का विवरण बड़ा मनोज्ञ और शिक्षापूर्ण है, किंतु इसमें दो एक बातें अवश्य विचारणीय हैं।

यदि एलेग्जेंडर साहब ने आचारों की उत्पत्ति ही लिखने के लिये क़लम उठाई होती, तो शायद वे इतना कह कर कृतकार्य हो जाते, किंतु कर्त्तव्यशास्त्र का विषय

---

* This moral order is an adjusted order of conduct, which is based on contending inclinations and establishes an equilibrium between them. Goodness is nothing but an adjustment in the equilibrated whole.

एलेगजेंडर साहब के मत पर विचार.

केवल आचारों की उत्पत्ति ही नहीं है। जब तक हम को यह मालूम न हो कि उत्तमोत्तम आचार की क्या पहिचान है, तब तक इससे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता कि उत्तमोत्तम आचार अपने प्रतिद्वंद्वियों पर विजय प्राप्त कर संसार में प्रचार पाते रहते हैं। 'सत्यमेव विजयते' ठीक है, किंतु इसके साथ यह प्रश्न अवश्य उठता है, कि सत्य क्या है ? जिस प्रकार विजय-प्राप्ति सत्य का लक्षण नहीं, उसी प्रकार आदर्शों की प्रतिद्वंद्वता में किसी एक आदर्श का औरों की अपेक्षा अधिक प्रचार पा जाना उसके मुख्य लक्षण को नहीं बताता। क्या कोई आचार उसके अधिक प्रचार के कारण श्रेष्ठ समझा जा सकता है ? या उसके श्रेष्ठ होने के कारण उसका अधिक प्रचार हुआ ? अधिक प्रचार अथवा अपने प्रतिद्वंद्वियों पर विजय प्राप्त करना कोई ठीक कसौटी नहीं। अभी तो संग्राम चल ही रहा है, किस प्रकार कहा जा सकता है कि परोपकार ने स्वार्थ को जीत लिया, अथवा स्वार्थ ने परोपकार पर विजय पाई ?

हम मानसिक प्रवृत्तियों के सामंजस्य को भी ठीक आदर्श नहीं मान सकते हैं। जब तक हम को यह न ज्ञात हो कि हमारी मानसिक प्रवृत्तियों में कौन सी ऊँची है और कौन सी नीची, तब तक केवल सामंजस्य के आधार पर कर्तव्य निश्चित नहीं किया जा सकता। बहुत से साधारण लोगों के मन में कोई नैतिक असामंजस्य नहीं स्थापित होता, तो क्या ऐसे पुरुषों के कार्य सराहनीय समझे जा सकते हैं ? महाराज दशरथ के मन में श्री रामचंद्र जी को वनवास देते समय असामंजस्य स्थापित हुआ था। एक ओर तो यह अटल आदर्श था कि,—

"रघुकुल रीति सदा चली आई । प्राण जाहि बरु वचन न जाई ॥"

और दूसरी ओर पुत्र-प्रेम विह्वल करता हुआ उनके मुख से यह कहला रहा था कि,—

"जिये मीन बरु वारि-विहीना । मणि बिनु फणिक जिये दुख दीना ॥
कहौं सुभाव न छल मन माहीं । जीवन मोर राम बिनु नाहीं ॥"

ऐसी अवस्था में मानसिक प्रवृत्तियों में घोर संग्राम हो रहा था । पुत्र-प्रेम पर सत्य-परायणता ने विजय पाई, किंतु पुत्रप्रेम का प्रबल प्रवाह भी दबने वाला न था । उन्हें अपने प्राणों की आहुति देकर मानसिक साम्य स्थापित करना पड़ा । किंतु एक और प्रकार से वह अपना मानसिक साम्य स्थापित कर सकते थे । प्राणों से अधिक पुत्र को न समझ अपने वचन से फिर जाते, कैकेयी को भी आखिर मानना पड़ता । किंतु फिर जगत में वे ऐसी वंदना के योग्य न ठहरते ।

मानसिक सामंजस्य दोनों ही रीतियों से स्थापित हो सकता है । नीची प्रवृत्तियों के दबाने से भी और उनको ढील दे देने से भी । असामंजस्य तब ही होता है, जब कि दो आदर्श, जिनका नैतिक मूल्य निश्चित नहीं किया जा सकता, सामने उपस्थित हों, अथवा मनुष्य की पाशवी और दैवी प्रवृत्तियों में झगड़ा हो रहा हो । ऐसी अवस्था में मनुष्य को सामंजस्य स्थापित करने के लिये यह जानना आवश्यक होता है कि दो आदर्शों का नैतिक मूल्य किस प्रकार निश्चित किया जाय, अथवा दो प्रवृत्तियों में कौन सी ऊँची है और कौन सी नीची ? वैसे तो नीची कोटि के लोगों को कुछ असामंजस्य ही नहीं होता । इसको सब ही मानेंगे कि उच्च आदर्श को छोड़कर असामंजस्य स्थापित करना श्रेय नहीं । जब हम को ऊँचे और नीचे का अंतिम निर्णायक मिल जायगा, तब भी

एक प्रश्न शेष रहेगा, कि ऊँचे की जीत से क्या अर्थ ? क्या मनुष्य की नीची प्रवृत्तियों का समूल नाश करने से अथवा उनकी पुकार की ओर बिल्कुल ध्यान न देने से उच्च आदर्शों की जय हो सकती है ? इस पक्ष पर अगले अध्याय में विवेचना की जायगी। एक दूसरे प्रकार से भी उच्च आदर्शों की जय हो सकती है। वह यह है कि नीची प्रवृत्तियों की पुकार की ओर भली भांति ध्यान देकर उनको ऊँचा बनाने का यत्न किया जाय। संसार में वही विजयी यश पाता है, जो पराजित पुरुषों का हनन न कर उनको अपनी भांति ऊँचा और सभ्य बना लेता है। वही गुरु सद्गुरु समझा जाता है, जो चेले को अपनी भांति बना लेता है। ऊँचा आदर्श वही है, जो नीच प्रवृत्तियों को भी अपने आलोक में ऊँचा बना ले। पुस्तक के अंत में दिखलाया जायगा कि हम अपनी नीच प्रवृत्तियों को भी बिना हनन किए किस प्रकार ऊँचा बना सकते हैं।

आठवाँ अध्याय ।

आत्म-विजय ।

(Self-conquest)

पिछले तीन अध्यायों में सुखवाद के भिन्न भिन्न भेदों की व्याख्या करते हुए, यह बात बतलाई गई थी कि सुखवादी लोग वांछित को ही वांछनीय समझते हैं

सिनिक्स और स्टोइक्स

इच्छा के अनुकूल चलने को परम श्रेय मानते हैं। उनके लिये प्रेम ही श्रेय है। इसके विरुद्ध कुछ लोगों का ऐसा सिद्धांत है कि इच्छा वा वासना को मारना ही परम कर्त्तव्य है । ये लोग मन और बुद्धि में लड़ाई करा कर मन के ऊपर विजय प्राप्त करने ही को जीवन का परम पुरुषार्थ मानते हैं। वे 'देहो दुःखं महत्फलं' कह कर अपने शरीर को नाना प्रकार के दुःख देते हुए इंद्रियों को जीतते हैं। मन को मारना ही इस पक्ष के लोगों का मूल मंत्र है। "मन को ऐसा मारिए, जो टूक टूक हो जाय।" यही सिद्धांत प्राचीन यूनान में सिनिक्स (Cynics) * लोगों द्वारा प्रचार में आया था। इन लोगों के प्रधान आचार्य ने सुख

---

* सुकरात की संप्रदाय के पीछे से दो भेद हो गये। एक संप्रदाय के लोग धर्म (Virtue) के प्रधानता देने लगे। ये लोग सिनिक्स कहलाए। जो लोग सुख को प्रधानता देते थे वे लोग सिरेनिक्स के नाम से प्रख्यात हुए। जिस प्रकार सिरेनिक्स के मत से एपीक्यूरीयंस के मत का उदय हुआ था उसी प्रकार सिनिक्स लोगों में से स्टोइक्स का निकास हुआ है। डासोजिनीज (Diozenes) ने सिनिक्स में सब से अधिक ख्याति पाई। सिनिक्स संप्रदाय का आदि प्रवर्तक ऐंटिस्थेनीज था।

का इतना तिरस्कार किया, कि उसने एक बार कहा था, कि 'मैं सुखी होने की अपेक्षा पागल होना पसंद करूंगा।' इन लोगों ने सुख और कर्त्तव्य का पूर्ण विरोध माना है। इन्हीं सिनिक्स लोगों में से स्टोइक्स (Stoics) * का उदय हुआ। ये लोग भी आत्मविजय के सिद्धांत को माननेवाले हैं। इनका कथन है कि सुख दुःख का विचार न करते हुए बुद्धि के अनुकूल चलना ही परम श्रेय है। बुद्धि के अनुकूल चलने में ये सब प्रकार के ऐहिक ऐश्वर्यों का तिरस्कार करते थे। बुद्धि को मनोविकारों से दूषित न कर देने के भय से उन पर ध्यान न देते हुए उनको मारने ही के लिये उद्यत रहते थे। ये लोग ज्ञान को ही परम लक्ष्य मानते थे। इन लोगो का मत है कि बुद्धि और ज्ञान का प्राकृतिक नियमों में विकाश होता है। प्रकृति में सदा ईश्वरीय ज्ञान का व्यंजन होता रहता है। इसलिये प्राकृतिक नियमों के अनुकूल चलना ही बुद्धिमान पुरुष का कर्त्तव्य है। प्रकृति के अनुकूल चलने में ही बुद्धि की अनुकूलता है। अतएव, प्रकृति के अनुकूल यत्न करना ही इस मत के अनुयायियों को श्रेय है।

भारतवर्ष में आत्म-विजय का सिद्धांत।

भारतवर्ष में, इस कर्त्तव्य संबंधी सिद्धांत का मूल उन लोगों के विचार में है, जो सांख्य और वेदांत का तत्व इसीमें समझते हैं कि शरीर और मन सब प्राकृतिक वा मायिक हैं और बिना इनके नाश हुए सच्चे मोक्ष-प्रद आत्म-ज्ञान का उदय

* स्टोइकस् लोगों का नाम 'स्टोआ' जिसकी अंग्रेजी भाषा में पोर्च (Porch) कहते और हिंदी में दहलीज कहते हैं, पर से पड़ा है। इसके आदि प्रवर्तक जेनो (Zen) (लगभग ३४२–२७० पूर्व ई०) स्टोआ में बैठकर उपदेश देते थे इसीसे इस संप्रदाय के लोगों का नाम स्टोइक्स पड़ा।'

नहीं हो सकता। जहां यह विश्वास हो जाय कि शरीर और मन आत्म-ज्ञान के बाधक हैं, वहां पर यह स्वाभाविक ही है कि इनके नाश करने का यत्न किया जाय। बहुत से लोग तो आत्म-ज्ञान का लक्ष्य छोड़कर शरीर को दुःख देना ही परम कर्त्तव्य मान बैठते हैं। ये लोग कर्मत्यागी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ये साधन को ही साध्य मान लेते हैं, अर्थात् इंद्रिय-निग्रह के मूल लक्ष्य को भूलकर शरीर नाश ही लक्ष्य बना लेते हैं।

संन्यासी लोग ज्ञान को परमगति मानकर कर्मत्याग करते हैं। यद्यपि यह बात विचारणीय है कि ज्ञान और कर्म का कहां तक विरोध है, तथापि संन्यासियों ने कर्म के त्याग का कारण तृष्णा में रक्खा है। तृष्णा-क्षय में ही दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति है। ऐसा मत महाभारत में भी माना है, " योऽसौ प्राणांतिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् "

वासना-क्षय परम कर्त्तव्य नहीं हो सकता

अर्थात् जो प्राणांतिक रोग तृष्णा है, उसे छोड़ने में ही सुख है। यह बात ठीक है कि वासना दुःख का मूल है, किंतु इसके साथ यह अवश्य मानना पड़ेगा कि तृष्णा ही सब कर्मों की चालन-शक्ति है, और जबतक सब कर्म दुखमय न मान लिए जायँ तब तक तृष्णा का समूल नाश करना श्रेय नहीं समझा जा सकता। बौद्धधर्म में भी वासना-क्षय को ही परम पुरुषार्थ माना है। इसके साथ यह बात समझ में नहीं आती कि वासना-क्षय को परम कर्त्तव्य मानते हुए बौद्धधर्मावलंबियों का व्यवहार में परार्थवाद कहांतक संगत समझा जायगा! कहीं पर इसी कठिनाई को देख कर ही बौद्ध ग्रंथों में यह लिखा गया है, कि अपने निर्वाण को सब परोपकारों

से अच्छा समझना चाहिए और वह बिना सब प्रकार के कर्मों की श्रृंखला को तोड़े नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिये कर्म से विराम ही उनके यहां परम श्रेयस्कर मानना चाहिए।

जर्मन पंडित शोपनहोर (Schopenhaur) (१७८८–१८६०) और उनके शिष्य वॉन हार्टमैन (Von Hartman) (१८४२–१९०६) भी लगभग इसी सिद्धांत को मानते हैं। उनका कहना है कि कोई वासना पूर्ण नहीं होती और एक वासना के पूरे होने के बाद ही तुरंत दूसरी वासना उठ खड़ी होती है। साधारणतः वासनाओं का कभी अंत नहीं। 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।' वासनाएँ कभी पूरी नहीं होतीं और उसके पूरे न होने के कारण दुःख होता है। इसलिये इसको ही परम लक्ष्य न मान कर ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले आनंद को अंतिम लक्ष्य मानते हैं।

शोपनहोर और वान हार्टमैन

शोपनहोर ने तो केवल व्यक्तिगत संकल्प के नाश करने को परम श्रेय माना है, किंतु उनके शिष्य वान हार्टमैन ने सारे संसार में क्रिया को स्तब्ध कर देने का यत्न सिखाया है! यह केवल दुःख से भागना है, दुःख को जीतना नहीं। संकल्प के नाश करने के अतिरिक्त और भी एक बात संभव थी, कि सुख की असफलता दुःख न मानी जाय। इस संबंध में श्रीमद्भगवद्गीता का निम्नोल्लिखित उपदेश मनुष्य को संकल्प-त्याग करने की आपत्ति से बचा देता है,

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धौ असिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥

अर्थ—अप्रार्थित लाभ से संतुष्ट रहनेवाला, शीतोष्ण सुख दुःखादि से अबाधित, मत्सर रहित तथा कार्य साफल्या-

साफल्य में साम्य बुद्धि रखनेवाला मनुष्य कर्म करता हुआ भी बंधन को प्राप्त नहीं होता।

बौद्धधर्म ने भी एक प्रकार के संन्यास-मार्ग का प्रतिपादन किया है, किंतु बौद्ध लोग वासना के त्याग से दुःख की निवृत्ति ही को परम लक्ष्य मानते हैं। इस निषेधात्मक लक्ष्य को प्राप्त कर वे लोग किसी भावात्मक लक्ष्य की ओर नहीं जाते। भाव को अभाव बनाना ही इनका इति कर्त्तव्य हो जाता है। यह बात तो अवश्य माननी पड़ेगी कि शरीर को दुःख देना बौद्ध धर्म नहीं सिखाता। दुःख दूर करना ही इस धर्म का परम लक्ष्य है। किंतु वे दुःख के दूर करने में 'सुख-दुःख के आधार ही' का नाश कर देते हैं। न सिर ही रहै, न सिर का दर्द! न मर्ज़ ही रहे, न मरीज़! यह मत सब बौद्धों का नहीं, कुछ का तो अवश्य ही है। महात्मा बुद्ध का कथन है, कि यत्नपूर्वक क्रियाओं के मूल संकल्प का नाश करना चाहिए तब ही दुःख का अंत हो सकता है। वासना का क्षय कर आवागमन से रहित हो जाना ही परम कर्तव्य है किंतु आवागमन से छुटकारा पाकर जीव की कोई भावात्मक दशा रहती है या नहीं इसके लिये बौद्ध धर्म एक प्रकार के अज्ञेय वाद में शरण लेता है। किंतु इनका अज्ञान निषेध की ओर ही झुका हुआ है।

बौद्धधर्म और हिंदूधर्म के लक्ष्य में भेद।

आवागमन की शृंखला को तोड़ना बौद्ध धर्म की भाँति हिंदूधर्म का भी अभीष्ट है, किंतु हिंदू लोग केवल आवागमन से छुटकारा पाने को मोक्ष नहीं मानते। उनका लक्ष्य भावात्मक है; अभावात्मक नहीं। गीता प्रतिपादित निष्काम-कर्म, कर्म को नाश किए बिना ही आवागमन की शृंखला को तोड़

देता है। जन्म का कारण क्या है? कर्म अथवा फलाशा? उठना, बैठना, साँस लेना, यह सब कर्म ही हैं। किंतु इनके लिये कोई मनुष्य बुरा भला नहीं ठहराया जाता। इसका कारण केवल यही है कि मनुष्य इन कर्मों के लिये कोई फलाशा नहीं रखता। इसी प्रकार निष्काम कर्म भी पाप-पुण्य के फल से छुटा देता है। जो लोग दूसरों को सरकारी आज्ञा से मारते हैं, वे दोषी नहीं ठहराए जाते। इसी तरह जो लोग किसी दूसरे की प्रेरणा से भले काम करते हैं, वे पुण्यात्मा भी नहीं समझे जाते। * निष्काम कर्म का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य यंत्रवत् आचरण करने लगे। यंत्रवत् आचरण करने से तो आवागमन के बंधंन में ही पड़ा रहना अच्छा है। साम्य बुद्धि से आचरण करने ही में निष्काम कर्म का महत्व समझ में आता है। दुःख और बंधन तब ही होता है, जब कि मनुष्य अपने को अन्य व्यक्तियों से पृथक् समझता है। जहाँ,

> " अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रं करुण एव च।
> निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ " १२।१३

बनकर कार्य किया जाता है, वहाँ न दुःख ही होता है और न कर्मों का बंधन! सब में जो अपने को देखता है, वह दुःख का भोगनेवाला नहीं सबको आत्मौपम्य दृष्टि से देखने ही में साम्य बुद्धि समझी जाती है। ईश्वर सब का कर्त्ता हो कर भी निष्क्रिय समझा जाता है, क्योंकि उसके कार्यों में वैषम्य नहीं होता है। मनुष्य को ईश्वर इव आचरण करना

---

* निष्काम कर्म का वास्तविक अर्थ यही है, कि सद्सद्विवेक-पूर्वक सत्क्रिया को ' स्वार्थ-त्याग ' और 'साम्य बुद्धि' से ' ईश्वरार्थ' किया जाय। मनुष्य का सर्वोच्चतम आदर्श ईश्वर है। क्रिया का ईश्वर से संबंध जोड़ना उसको सर्वोच्चतम आदर्श की दृष्टि से देखना है। 'ईश्वर' में व्यष्टि और समष्टि का योग और पूर्ण अविरोध है।

चाहिए। यह न तो निष्क्रियता ही है और न यंत्रवदाचरण। इस तरह कार्य करना ही मनुष्य के लिये परम श्रेय है। कर्म का त्यागना कायरता ही नहीं, वरन् आत्म-हत्या है। वासना-क्षय और इंद्रिय-निग्रह ये सब साधन रूप हैं, और इन्हें करना भी परमावश्यक है, तथापि इन्हीं को अंतिम फल न मानते हुए आत्मा के पूर्ण विकाश के लिये यत्न करना चाहिए।

कर्त्तव्य-परायण जीवन में इंद्रिय-निग्रह का बड़ा महत्व है तथापि इंद्रिय-निग्रह मात्र ही कर्त्तव्य-परायण जीवन नहीं। अर्थात् कर्त्तव्य-परायण जीवन का इंद्रिय-निग्रह भी एक प्रधान अंग है, किंतु उसके ऐसे ही वा इससे भी श्रेष्ठ और भी अंगोपांग हैं। अतः इतने ही में कर्त्तव्य-परायणता का संकोच कर डालना बड़ी भारी भूल है। वासना-क्षय करना ही यदि परम पुरुषार्थ समझा जाय, तो वासना के नाश करने में भी वासनाओं का अस्तित्व अत्यावश्यक है। शत्रु के स्थित रहने ही में विजेता का गौरव है। संसार को त्याग कर जो मौन हो बैठते हैं, वे भी अपना लक्ष्य पूरा नहीं कर सकते। जो संसार के लोभायमान दृश्यों से भागते हैं, वे कायर हैं। उन दृश्यों के पुनः उपस्थित हो जाने पर चित्त के चलायमान हो जाने की आशंका रहती है। इसी लिये कहा है, कि "विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि ते एव धीराः" अर्थात् विकार के हेतु उपस्थित होने पर, जिनके चित्त विकार को प्राप्त नहीं होते, वे ही धीर समझे जाते हैं।

आत्मविजय का सच्चा अर्थ।

इन विचारों के आलोक में पाठकों को आत्म-विजय की उचित सीमा दिखाई पड़ने लगेगी। सत्प्रवृत्तियों को स्थान देने के लिये दुष्प्रवृत्तियों को रोकना पड़ता है। मनोविकारों

को शुद्ध और नियमित करने के लिये कभी कभी अपने मन के झुकाव के प्रतिकूल जाना पड़ता है, किंतु यह प्रतिकूल जाना मन की शुद्धि के लिये होता है। यदि यह भी मान लिया जाय कि मन को मारना ही परम श्रेय है, तब भी इसके लिये कोई मनुष्य तभी यत्नवान हो सकता है, जब कि वह बात उसके मन के अनुकूल हो। मन के मारने के लिये भी मन की अनुकूलता चाहिए! मन को मारना हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए। मन की शुद्धि और सत्कार्यों के प्रति रुचि बढ़ाने में ही हमारी आत्मा के पूर्ण विकाश की संभावना है।

कांट के कर्त्तव्य संबंधी विचारों को समझने के लिये उसका तत्वज्ञान जानना आवश्यक है। कांट का कथन है कि शुद्ध बुद्धि (Pure reason) द्वारा आत्मा और ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता। उसके मत से हमारा ज्ञान (सिवाय गणित संबंधी ज्ञान के जो कि आकाश से संबंध रखता है) एक तो भिन्नता, पूर्णता, द्रव्यत्व, कारण आदि बुद्धि की १२ संज्ञाओं (Catagories of understanding) तथा काल और आकाश रूपी भीतरी और बाहिरी साँचों के योग का, जो अनिश्चित गुण-रहित ऐंद्रिक विषयों से होता है, फल है। हमारा बुद्धिजन्य ज्ञान एक मिश्रित पदार्थ है। काल, आकाश एवं बुद्धि की संज्ञाएँ यही तो शुद्ध हैं, किंतु जो ज्ञान इनके और बाहिरी ऐंद्रिक विषयों के योग से होता है, वह शुद्ध नहीं। हम को यह कदापि मालूम नहीं हो सकता कि असली पदार्थ (चाहे भौतिक हो, चाहे आध्यात्मिक) का वास्तविक स्वरूप क्या है। जो कुछ हम देखते हैं, मन के रंगीन चश्मे से देखते हैं। चश्मे के बाहर पदार्थ का क्या स्वरूप है, उसके लिये कुछ नहीं कहा जा

कांट

सकता। कांट का तत्वज्ञान एक प्रकार के अज्ञेय वाद में ले जाता है। कांट का वास्तविक पदार्थ (The thing in itself) सांख्य-वादियों के अव्यक्त प्रधान से मिलता जुलता है। कांट ने अपने शुद्ध बुद्धिजन्य अज्ञेय वाद का अपवाद क्रियात्मक बुद्धि (Practical reason) की आवश्यकताओं में किया है। उनके मत से क्रियात्मक बुद्धि, जिसका संबंध कर्तव्यशास्त्र से है, आत्मा और उसकी स्वतंत्रता एवं ईश्वर में विश्वास उत्पन्न कर देती है। कांट ने जो शुद्ध बुद्धि द्वारा असंभव समझा था, उसे क्रियात्मक बुद्धि द्वारा संभव कर दिखाया। यहीं पर कांट के कर्त्तव्यशास्त्र की स्थिति समझ में आती है। कांट के मतानुसार कर्त्तव्य केवल इसी अर्थ किया जाना चाहिए कि वह कर्त्तव्य है (Duty for duty's sake)। कर्त्तव्य में अपनी स्वाभाविक रुचि अथवा सुख का विचार न आना चाहिए। नहीं तो वह कर्म कर्त्तव्य न रहेगा, क्योंकि स्वाभाविक प्रवृत्ति अथवा रुचि प्रत्येक मनुष्य की एक सी नहीं होती ('भिन्न रुचिर्हि लोकः' प्रसिद्ध ही है) और यदि रुचि के अनुकूल ही कर्त्तव्य रहा, तो वह कर्तव्य परिमाण स्थिर नहीं कर सकता। इस लिये रुचि की अनुकूलता न देख कर सुधी पुरुष को बुद्धि (जो सब में एक सी है) की अनुकूलता देखनी चाहिए। हमारी स्वतंत्रता इस बात में है कि हम रुचि के प्रतिकूल भी बुद्धि के आदेशों का अनुकरण कर सकते हैं। बुद्धि के आदेशों के अर्थ विधिवाक्यों के लिये कोई स्वार्थ संबंधी कारण नहीं दिया जा सकता। कर्तव्य संबंधी आदेशों में 'अगर मगर' के लिये स्थान नहीं! इस पर यह प्रश्न होता है कि उस कर्त्तव्य का आदेश क्या है? इसके उत्तर में कांट साहब का

कहना है, कि चूंकि कर्त्तव्य का आदेश ऐसा होना चाहिए, जो सबके लिये एक सा होने के कारण सब को बाँध सके, अतः उस आदेश को निम्नोल्लिखित रूप ही दिया जाना संभव है। Act on a maxim which thou canst will to be universal, अर्थात् ऐसे सिद्धांत पर चलो, जिसे कि तुम सार्वजनिक बना सको। उदाहरणार्थ, यदि चोरी सार्वजनिक बन जाय, तो संसार का कार्य बंद हो जाय ! यदि सबही लोग झूठ बोलने लगें, तो कोई किसी की बात न मानेगा। इसलिये चोरी और झूठ बोलना हेय तथा अस्तेय और सत्य धर्म हैं। यह सिद्धांत देखने में तो ठीक सा मालूम पड़ता है, किंतु विचार करने पर इसमें कई दोष दिखाई देते हैं। इस सिद्धांत में अपवादों के लिये कोई स्थान नहीं। यदि हमको किसी के प्राण बचाने के लिये झूठ बोलना पड़े तो क्या हम झूठ बोलने को सार्वजनिक बना सकते हैं? और लीजिए, समाज में यदि कुछ लोग ब्रह्मचारी रहें तो उसे कोई सुधी पुरुष बुरा न कहेगा, किंतु यदि ब्रह्मचर्य सार्वजनिक बना दिया जाय, तो संसार-नाटक की इतिश्री हो जाय ! संतोष अच्छा है, किंतु सार्वजनिक नहीं हो सकता। यदि गीता की तरह कांट साहब कर्त्तव्य में गुण, कर्म और स्वभाव से वैविध्य को मान लेते, तो इतनी कठिनाई न पड़ती। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' इत्यादि वाक्यों से गीता में अपनी स्थिति के अनुकूल धर्मों में सापेक्षत्व माना है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त कांट का सिद्धांत भाव के रूप में अभावात्मक है। यदि सब लोग दान न दिया करें, अथवा उत्साही न हों, तो भी संसार चला जायगा। इसमें कोई असंभवता नहीं ! उत्साही और दान-शील बनाने के लिये

कांट के मत में कोई उत्तेजक नहीं। दान के लिये तो उनके मत में, कोई स्थान ही नहीं हो सकता, क्योंकि सब लोग दान नहीं कर सकते। यदि सब लोग दान करें, तो दान लेगा कौन? कांट के सिद्धांत में एक और भी दोष है कि उन्होंने मनुष्य की रुचि और स्वाभाविक प्रवृत्तियों को बुद्धि के प्रतिकूल ही मान रक्खा है। यह बात सर्वथा सिद्ध नहीं। सच पूछा जाय तो मनुष्य में दया आदि सद्गुण स्वभाव से ही वर्तमान हैं, और मनुष्य की रुचियों में भी इतना वैविध्य नहीं है, जितना वे समझते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों में वैविध्य होते हुए भी एकता है। बुद्धि से सत्प्रवृत्तियां और भी दृढ़ बनाई जा सकती हैं। मनुष्य, प्रवृत्तियों को बुद्धि के अनुकूल बना कर ही कर्त्तव्यपरायण हो सकता है। कोरी बुद्धि में शक्ति नहीं। शक्ति स्वाभाविक प्रवृत्तियों से ही मिलती है। इसलिये इनका तिरस्कार न करना चाहिए।

कांट ने सुख वा आनंद की इच्छा को क्रिया का कारण नहीं माना है। किंतु उसको क्रिया का फल रूप माना है। उन्होंने फल के विचार से ही फल के देनेवाले ईश्वर, फल भोग करनेवाले जीव और फल भोगने के लिये जीव का अमरत्व सिद्ध किया है। स्वतंत्रता के विषय में ऊपर ही कहा जा चुका है, कि हम अपनी रुचि के प्रतिकूल भी बुद्धि का अनुकरण कर सकते हैं। इसी में हमारी स्वतंत्रता है।

नवाँ अध्याय ।

आत्म-प्रतीति ।

(Self-realization)

गत अध्याय में दिखाया जा चुका है, कि जो लोग बुद्धि के अनुकूल चलने को परम कर्त्तव्य मानते हैं, उनको यह तो अवश्य ही मानना पड़ता है कि जब तक हम इस बात को अपनी रुचि के अनुकूल न समझ लें कि बुद्धि के आदेशों पर चलने में हमारा श्रेय है, तब तक उन आदेशों का पालन करना कठिन होता है। उपयोगितावाद का विवरण देते हुए यह बतलाया गया था कि इस वाद के प्रवर्तक मिल साहब ने सुखों में गुण-भेद माना है। गुण-भेद के मानते ही बुद्धि की प्रधानता को स्वीकार कर लेना पड़ता है। प्रोफेसर ऐलेग्ज़ेंडर ने विकाशवाद के सिद्धांत मनुष्य की प्रवृत्तियों में ऊँच नीच के भेद से किए हैं। यह भी बुद्धि का गुप्त रीति से स्वीकार करना है। बिना बुद्धि के हमारे सब कार्य अनियमित रहेंगे। बुद्धि ही हमारी पथ-प्रदर्शक है। बुद्धि ही हमारी ज्ञान चक्षु है, जिसके बिना हम अंधे बन जाते हैं किंतु केवल बुद्धि से भी काम नहीं चलता, क्योंकि बिना भावों के हम शक्तिहीन हैं। भाव ही हमारी संचालन शक्ति हैं। बिना बुद्धि के उस शक्ति के दुरुपयोग होने की आशंका रहती है।

बुद्धि और भावों की अन्योन्याश्रयता

किंतु यदि शक्तिहीन हों, तो बुद्धि किसे नियमित करेगी! हमारे भाव, प्रवृत्ति और शक्ति के दुरुपयोग और सदुपयोग दोनों ही हो सकते हैं। कहा भी है—

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीड़नाय।
खलस्य, साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

अर्थात् विद्या, धन और शारीरिक बल तीन बड़ी शक्तियां मानी गई हैं। किंतु उनका भला या बुरा उपयोग दोनों ही होता है। विद्या का दुरुपयोग विवाद और सदुपयोग ज्ञान है। इसी प्रकार धन घमंड के लिये भी हो सकता है और दान के लिये भी। शारीरिक बल से बुरे आदमी दूसरों के सताने में योग देते हैं और अच्छे आदमी उसी बल से दूसरों की रक्षा करते हैं। बुद्धि के द्वारा ही इन शक्तियों के सदुपयोग की संभावना है, किंतु ये शक्तियां न हों, तो न ज्ञान ही संभव है और न दान तथा दूसरों की रक्षा! हमारे मनोविकार भी बुद्धि के योग से लाभदायक बनाए जा सकते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार ये सब बातें बुरी समझी जाती हैं, पर बुद्धि द्वारा इनका उचित मात्रा में सेवन करना संसार की स्थिति के लिये परमावश्यक है। यदि काम न रहे, तो पुत्रो-त्पादन न करके पितृ-ऋण किस प्रकार दूर हो? यदि क्रोध न हो, तो अनर्थ दूर करने के लिये कौन हाथ उठावे? यदि लोभ न हो, तो दान के लिये धन-संचय कौन करे और मोह के अभाव से प्रेम सा पवित्र पदार्थ कहाँ से आवे? यदि अहंकार न हो, तो स्वाभिमान और स्वावलंबन, जो क्रिया के मुख्य साधक हैं, संसार से उठ जायँ!

आत्म-विजय का अर्थ आत्म-हनन नहीं। यदि ऐसा हो

तो जीतनेवाले का ही अस्तित्व कहाँ रहेगा? उपनिषदों में * जो उदाहरण रथी, सारथी और घोड़ों का दिया है, उसका ठीक अर्थ यही है कि इंद्रियों को बुद्धि द्वारा नियमित करो, न कि उनको मार डालो। सारथी का काम घोड़ों को ठीक तौर से ले जाना है, न कि उनका हनन करना! बुद्धिरूपी सारथी का यह काम है कि मन और इंद्रियों के घोड़ों को ठीक राह पर चलावे, न कि उनको मार डाले। यदि अश्व ही नहीं, तो सारथी कहाँ, और आत्मा भी पंगु हो जायगी! यदि हमको अपना उद्धार करना है, तो मन और बुद्धि दोनों को ही उचित स्थान देना चाहिए †। यह बात अवश्य है कि हमको बाहरी शासक की आवश्यकता नहीं, किंतु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि हमको किसी शासक ही की आवश्कयता नहीं। हमारी आत्मा ही शासक है और वही शासित है। गीता में कहा है—

सच्ची विजय में पराजित की रक्षा

---

* आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ॥
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इंद्रियाणि हयानाहु विषयांस्तेषु गोचरान् ॥
आत्मेंद्रिय मनोयुक्तं भोक्तेयाहुर्मनीषिणः ॥
कठ० प्रथमाध्याय ३ वल्ली।

† इस संबंध में निम्न श्लोक विचारणीय हैं—
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ॥
न स तत्पदमाप्नोति स ऽ सारं चाधिगच्छति ॥
यस्तुविज्ञानवान्भवति स मनस्कः सदाशुचिः ॥
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥
विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ॥
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
कठ० प्र० तृ० ७-८-९।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥
भगवद्गीता ६ । ५, ६ ।

अर्थात् अपनी आत्मा का उद्धार आत्मा ही द्वारा करना चाहिए (इससे यह उपदेश दिया गया कि हम को अपने उद्धार के लिये किसी बाहरी शास्ता की आवश्यकता नहीं, अपना उद्धार स्वतंत्रता से करना चाहिए । अपने आप को कभी नीचा व अयोग्य न समझे (इसमें स्वावलंबन की शिक्षा दी गई है) आत्मा का आत्मा ही बंधु है और आत्मा ही शत्रु है । इसकी व्याख्या आगे श्लोक में की है । जिसने अपनी आत्मा को आत्मा द्वारा जीत लिया है, उसी की आत्मा उसकी बंधु है, अर्थात जिसने अपनी आत्मा की नीच प्रवृत्तियों को अपनी ही आत्मा के उच्च आदर्शों के अनुकूल बना लिया है, वही अपनी आत्मा से उचित लाभ उठा सकता है । इस श्लोक में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि जो मानसिक प्रवृत्तियां आत्मा द्वारा पराजित की जायँगी, उनको भी आत्मा की संज्ञा दी है । इससे यह सिद्ध होता है, कि ये प्रवृत्तियां भी आत्मा से बाहर नहीं । आध्यात्मिक साम्य को स्थापित करना गीता को भी मान्य है । मन और बुद्धि की परस्परानुकूलता में रहनेवाले साम्य को और लोगों * ने भी माना है, किंतु परस्परानुकूलता में इतना दोष अवश्य रहता है कि ऊँचा भी नीचे के अनुकूल बन कर एक प्रकार का साम्य

* जैसे प्रोफेसर एलेग्जेंडर और सर लेजली स्टीफन ।

स्थापित कर सकता है। 'जितः' शब्द से यह स्पष्ट है, कि ऊँचा नीचे को अपने अनुकूल बना लेता है। * सच्ची जीत शत्रु के मार डालने में नहीं, वरन् उसे अपने अनुकूल बना लेने में है। शत्रु को अनुकूल बना कर हम अपनी शक्ति को बढ़ा सकते हैं और मार डालने से हम अपनी भावी शक्ति को कम करते हैं। प्राचीन-कालिक महापुरुषों के विषय में कहा जाता है कि उनके शत्रुओं का बल उनमें आ जाता था। ठीक इसी प्रकार अपनी पराजित प्रवृत्तियों को अपने आदर्शों के अनुकूल बना कर उनका बल अपने में ले जाना चाहिए। यही सच्ची आत्म द्वारा आत्म-विजय है। प्रवृत्तियों की शक्ति को गीता में भी माना है। लिखा है, कि सब लोग अपनी प्रकृति के अनुकूल चलते हैं। † यह बात तो आत्मा की बंधुता के विषय में कही गई, अब उसी बात को स्पष्ट करने के लिये

---

* ग्रीन साहब (१८३६–१८८२) (T. H Green) का भी मत इससे मिलता जुलता ही है। ग्रीन साहब का कहना है कि हमारी प्रवृत्तियाँ अंध प्रवृत्तियाँ नही, इन मे भी बुद्धि का विकाश हो रहा है। जिन इच्छा और प्रवृत्तियों मे बुद्धि का कम विकाश है वे नीची है और जिनमे अधिक वे ऊँची है। हमारे धार्मिक जीवन का तत्व इसी मे है कि इस बुद्धिके विकाश मे योग देवे अर्थात ऐसी ही इच्छा के पूरे होने का यत्न करे जिन मे कि बुद्धि का अधिक विकाश हो। बुद्धि ही मनुष्य की सच्ची आत्मा है। इसके अनुकूल हम को अपनी प्रवृत्तियां बनानो चाहिए। ऊँचे की अनुकूलता प्राप्त करने से नीचे का नाश नही होता किंतु नीचे मे जो बात गुप्त भाव से रहती है वह ऊँचे की अनुकूलता प्राप्त करने पर स्पष्ट होकर पूर्ण विकाश को प्राप्त होती है। ग्रीन साहब के तत्वज्ञान-संबंधी विचारों से इन सिद्धांतों का विशेष संबंध है, किंतु उनका यहा पर उल्लेख करना अनुचित होगा। इस स्थान पर इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि ग्रीन साहब ने कांट के सिद्धांतों को हेगिल के विचारों के आलोक मे दुहराया है।

† सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

कहा है कि जो अपनी आत्मा को नहीं पहचानता (अनात्मनः) वह स्वयं अपना शत्रु है। इससे पता चल गया कि आत्म-ज्ञान होने ही में अपना परमहित है, और जो कार्य आत्मा की पहचान अथवा प्रतीति में योग देते हैं, वे ही श्रेय समझे जायँगे।

आत्मा की सच्ची प्रतीति तब ही हो सकती है, जब कि हम उसके पूर्ण विकाश को देख सकें। किसी वस्तु के पूरे विकाश में ही उसकी असलियत दिखाई पड़ती है। लेखक अपने मन को पूर्णतः तब ही समझता है, जब कि वह उसको पुस्तक के रूप में देख लेता है। मनुष्य को आत्मा का पूरा पूरा विकाश उसकी क्रियाओं में होता है। इस लिये क्रियावान् बनना परमावश्यक है।

सच्ची आत्म-प्रतीति

यह संसार आत्म-विकाश के लिये क्रिया-स्थल है। आत्म-ज्ञान से क्रियाओं का झुकाव निश्चित होता है, और क्रियाओं द्वारा आत्म-ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। यही ज्ञान और क्रिया की स्थिति है। हमारे शास्त्र (विशेषतः वेदांत-शास्त्र) आत्मा की एकता और व्यापकता को मानते हैं। जो लोग जीवों की भिन्नता मानते हैं वे भी इतना तो अवश्य ही मानते हैं कि सब जीवों में एक से गुण हैं, सब में एक सी शक्ति और संभावनाएँ हैं। वे लोग भी कम से कम गुणात्मक एकता मानते हैं। यह एकता और व्यापकता आत्मा की प्रायः सबही क्रियाओं में प्रमाणित होती रहती है। कोई ऐसा मनुष्य नहीं, जो केवल अपनी व्यक्तिता में संकुचित रहता हो। डाकू भी और लोगों को धन और प्राणों से वंचित कर अपने बाल बच्चों के पालन

आत्मा का विस्तार

पोषण में यत्नवान् होता है। स्वार्थ में ही परार्थ-लाभ लगा हुआ है। सिंह अन्य जंतुओं का भक्षण करता है, किंतु सिंहिनी के प्रति उस क्रूर हिंसक पशु में भी शृंगाररसात्मक भावों का उदय हो जाता है। मानवी आत्मा सदा वर्तमान के संकुचित घेरे को अतीत कर अपने ज्ञान में सारे संसार की एकता कर लेती है। सारा विज्ञान आत्म-विस्तार की ओर चेष्टा करने का साक्षी है। कविता, चित्रकारी आदि कलाओं में भी यही बात पाई जाती है। राजनैतिक विद्रोह होने पर भी ज्ञान के साम्राज्य में सब प्रतिद्वंदी लोग एक दूसरे का प्रेमपूर्वक आलिंगन करते हैं। विकाश-वाद ने भी इस आत्मैक्य को भौतिक रीति से सिद्ध कर दिया है। समाजशास्त्र ने भी जीवन-शास्त्र (Biology) की उपमाएँ लेकर सामाजिक व्यक्तियों में ऐंद्रिक संबंध बताया है। जिस प्रकार कोई इंद्रिय शरीर से पृथक् नहीं रह सकती, उसी प्रकार व्यक्ति भी समाज से पृथक् नहीं रह सकता। इंद्रियों की पुष्टि में सारे शरीर की पुष्टि है। एक इंद्रिय के दूषित होने से सारा शरीर दूषित होता है। महात्मा तुलसीदास ने भी यह ऐंद्रिक संबंध निम्नलिखित दोहे में भली भांति बतलाया है—

मुखिया मुख सो चाहिये, खान पान में एक।
पालै पोषै सकल अँग, तुलसी सहित विवेक॥

कोई बड़ा आदमी स्वावलंबी होने का अभिमान नहीं कर सकता। सब आदमियों को संस्थाओं का आश्रय लेना पड़ता है। सारे जीवन भर मनुष्य समाज के व्यक्तियों की अन्योन्याश्रयता का परिचय देता रहता है। 'सात पांच की लाकड़ी, और एक जने का बोझ' केवल भिखारियों के जीवन में चरितार्थ नहीं होता, वरन् बड़े से बड़े आदमी को सात पांच तो

क्या सहस्रों का सहारा लेना पड़ता है। हमारे यहाँ देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण इन तीन ऋणों को मान कर बतलाया गया है कि मनुष्य समाज का कितना ऋणी है। सारे समाज के अनुभव से व्यक्ति लाभ उठाता है और व्यक्ति के अनुभव से समाज। इसी सिद्धांत में स्वार्थ और परार्थ की सीमा टूट जाती है। ऐसा ही हाल उन लोगों का है जो आत्मा की एकता में दृढ़ विश्वास रखते हैं। उनके लिये स्वार्थ और परार्थ में भेद नहीं रह जाता। परार्थ ही उनके लिये स्वार्थ हो जाता है।

आत्मैक्य-वाद का क्रिया मे प्रयोग, सच्ची आत्म-प्रतीति करना ही परम श्रेयस्कर है।

ऊपर की सब बातों से आत्मा की एकता और व्यापकता अवश्य सिद्ध होती है, किंतु इस ज्ञान से अधिक लाभ नहीं, जब तक प्रत्येक मनुष्य इसे अपने अनुभव में प्रत्यक्ष न कर सके। क्रिया में ही ज्ञान की स्पष्टता होती है। यह संसार हमारे आत्म-ज्ञान के लिये प्रयोग-शाला है। इसीलिये नर-शरीर देवताओं के लिये भी दुर्लभ बताया गया है। हमारी सच्ची आत्म-प्रतीति इसी में है कि वेदांत-प्रतिपादित आत्मैक्य को क्रिया द्वारा अनुभव-सिद्ध करें और अपनी मनोवृत्तियों के ज्ञान से सामंजस्य स्थापित कर उनको सच्चे आत्म-परिचय की ओर झुका देवें। जो वृत्तियाँ भेद को बढ़ानेवाली हैं, उनको भेद-साम्य की ओर झुका दें। भेद में अभेद और नानात्व में एकत्व देखने लगें। जिस बात की ओर आत्मा गुप्त रीति से जा रही है, उसको जान कर स्वतंत्रतापूर्वक अपने उद्योग द्वारा उस लक्ष्य के शीघ्र पूरे होने में योग देवें। गीता में उसी को योगी कहा है जो सब प्राणियों के सुख, दुःखों को आत्मौपम्य दृष्टि से देखता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन !
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

—गीता—६—३२

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित 'लोक-संग्रह' सब भूतों के हित में रति, सब में ईश्वर को देखना और ईश्वर में सब को देखना उपर्युक्त सिद्धांत को सिद्ध करता है। * वेदांत की भित्ति पर सर्वभूतों का हितान्वेषण, लोक-संग्रह और आत्मौपम्य दृष्टि से सर्व प्राणियों को देखना, ये सब आदर्श खड़े हो सकते हैं। गीता में क्षेत्रज्ञ का लक्षण बताते हुए कहा है—

अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च यज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥

अर्थात् वह आत्मा अविभक्त है, किंतु भूतों में विभक्त सी दिखाई पड़ती है। वह भूतों का पोषण करनेवाली, ग्रहण करनेवाली और पैदा करनेवाली है। आत्मा का यह ज्ञान कोरे शब्दों से अनुभवसिद्ध नहीं होता, किंतु सब भूतों के हित में रत रहनेवाले और सबको आत्मौपम्य दृष्टि से देखनेवाले ही इस ज्ञान को अपने जीवन में चरितार्थ कर के सच्चे आत्मानंद को प्राप्त होते हैं †। इसी आत्मानंद ‡ को योग-

---

* यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

† उपनिषदों में भी इस सिद्धांत को प्रमाणित किया है,

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

‡ अनन्त समतानन्दं परमार्थं स्वकं विदुः । मुमुक्षु प्रकरण ७ अध्याय ७ श्लोक १२

यह आदर्श आत्मा की स्वाभाविक चेष्टा के अनुकूल है। केवल इतना ही नहीं, विचार करने पर यह मालूम हो जायगा, कि पूर्व विवक्षित आदर्शों की एकवाक्यता इस आदर्श से हो जाती है। आत्मौपम्य दृष्टि से सब को देखकर भेद में अभेद स्थापित करने में उपयोगिता वाद का अधिकांश लोगों का अधिक सुख ही सिद्ध नहीं होता,

वासिष्ठ में अनंत समतानंद के नाम से परम पुरुषार्थ कहा है। विषमता ही दुःख का कारण है। समता दृष्टि से देखने पर दुःख नहीं रहता। सम-दृष्टि से देखने में ही पूर्ण आत्मा का ज्ञान और सच्ची आत्म-प्रतीति होती है। जो कार्य्य भेद को दूरकर समता में सच्ची आत्म-प्रतीति करावें वेही श्रेय हैं और वेही कर्त्तव्य कर्म कहे जावेंगे। 'मुगति भुगति किन निकट है काते दूर दिखाइ' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाषा के आदि कवि चंदबरदाई ने मुनि-मुख से सब को समता-दृष्टि से देखने की महिमा इस प्रकार बतलाई है—

"समदर्शी ते निकट है मुगति भुगति भरपूरि।
विषम दरस वा नरन तें सदा सरवदा दूरि॥"

वरन् सब भूतों के हित का साधन होता है। इसमें इतनी श्रेष्ठता और है कि इसे वेदांत का दृढ़ आधार मिल जाता है और इसकी पुष्टि के लिये हमको उलटी सीधी युक्तियां को काम में नहीं लाना पड़ता। जीवन-शास्त्र प्रतिपादित समाज और व्यक्ति का ऐंद्रिक संबंध भी इस आदर्श के अनुकूल चलने में और भी दृढ़ हो जाता है और स्पेंसर साहिब द्वारा प्रतिपादित व्यष्टि-समष्टि का सामंजस्य भी भेद में अभेद स्थापित करने में सिद्ध होता है। सर लेजाली स्टीविंसन का मानसिक सामंजस्य भी सब को आत्मौपम्य दृष्टि से देखने में प्राप्त हो जाता है। कांट के बताए हुए मानसिक प्रवृत्तियों में ऊँचे नीचे की पहिचान की भी सहज कसौटी मिल जाती है। जो प्रवृत्तियाँ भेद की ओर ले जाती हैं, वे नीची हैं और जो अभेद की ओर है वेही ऊँची हैं। बुद्धि के आदेश का पालन इस सिद्धांत में हो जाता है और विशेषता यह है, कि इसमें सत्कार्यों के लिये काफ़ी उत्तेजना रहती है। ग्रीन साहब का भी आदर्श इसके अनुकूल है। संन्यास का भी वास्तविक अर्थ सर्वभूतहित सम्पादन करने में ही आता है। सच्चा संन्यास कर्म-त्याग नही, 'स्वार्थ-त्याग' है। हॉब्स और बैन्थम की कठिनाई भी दूर हो जाती है। इस सिद्धांत में और सिद्धांतों से यह विशेषता है, कि इसमें ज्ञान और क्रिया की परंपरानुकूलता सिद्ध हो जाती है। ज्ञान से क्रिया का आदर्श मिलता है और क्रिया से ज्ञान की स्पष्टता होती है। ज्ञान क्रिया द्वारा ही सिद्ध होता है। यही वैज्ञानिक पद्धति के अनुकूल आध्यात्मिक ज्ञान का प्रयोग है।

दसवाँ अध्याय।

समाज और कर्त्तव्य-पालन।

यदि संसार में एक ही मनुष्य होता, तो शरीर-रक्षा के अतिरिक्त उसका कुछ भी कर्त्तव्य न था। शायद शरीर-रक्षा भी कर्त्तव्य की कोटि से निकल जाती। जब जीवन का कुछ मूल्य ही न रहा, तब जीवन-धारण करना किस प्रकार कर्त्तव्य कहा जा सकता है? कट्टर से कट्टर स्वार्थवादी भी समाज की स्थिति चाहते हैं। माना, कि हम अकेले रह कर सारे दृश्य-संसार के राजा बन जावें (Monarch of all I survey), किंतु जब तक कोई हमारा राजत्व स्वीकार करने को न हो, तब तक हम राजा ही कैसे? जब हम दूसरों को किसी वस्तु के भोग करने से न रोक सकें, तब हमारा अधिकार ही क्या अर्थ रखता है? उदार-चित्त मनुष्य भी निर्जन स्थान में कृपणवत् धन को एकत्र किए बैठा रहेगा। हमारा ऐक्योन्मुख आदर्श भी समाज की अपेक्षा रखता है। दो का ही एकीकरण हो सकता है। भेद में ही अभेद देखा जाता है। अकेला मनुष्य तो एक है ही। उसके लिये एकता की ओर जाना कर्त्तव्य न रहेगा। 'सर्वभूत-हितेरताः' होने के लिये सर्वभूत-स्थिति आवश्यक है। हमारे आदर्श की पूर्ति समाज में ही रह कर हो सकती है। समष्टि का हित-साधन कर व्यष्टि में समष्टि का भाव उत्पन्न करना समष्टि से बाहर होकर नहीं हो सकता। हमारी पूर्ण आत्म-प्रतीति, अपनी पूर्ण आत्मा के संबंध में, जिसका व्यंजन सारे

मनुष्य की समाज पर निर्भरता

संसार में हो रहा है, रह कर हो सकती है। समाज से पृथक् रहकर हम अपने आदर्श की किस प्रकार पूर्ति कर सकते हैं? समाज में हमको जो स्थान मिला है उसके उचित कर्त्तव्यों का पालन करने से हम अपने आदर्श की पूर्ति कर सकते हैं।

समाज में व्यक्ति की स्थिति और उत्तरदायित्व

समाज में प्रत्येक मनुष्य अपनी विशेष स्थिति रखता है। जिस प्रकार किसी मशीन में हर एक पुर्जा मशीन के चलने में योग देता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थानोचित क्रिया कर के संसार के निर्विघ्न संचालन में योग देना आवश्यक है। जैसे एक पुर्जे के ख़राब होने से सारी मशीन ख़राब होती है, वैसे ही एक व्यक्ति के धर्मच्युत होने से सारा समाज भ्रष्ट हो जाता है। धर्मच्युत होने से यदि केवल व्यक्ति ही की हानि होती, तो शायद धर्म का पालन न करना इतना दोष-पूर्ण न होता। किंतु जब एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है, तब व्यक्ति का धर्म-परायण रहना परमावश्यक हो जाता है और व्यक्ति का उत्तर-दायित्व भी बढ़ जाता है। इसी लिये श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है कि, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' यदि अर्जुन उस समय क्षत्रिय-धर्म को छोड़ कर संन्यास ग्रहण कर लेता तो वह समाज में अधर्म फैलानेवाला बन जाता। अर्जुन को समझाते हुए भगवान ने कहा है,

* स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि।

---

* स्वधर्म को देखकर तुमको थर्राने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धार्मिक युद्ध से श्रेष्ठतर क्या हो सकता है।

× × × ×

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

× × × ×

अथ चेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

वर्णाश्रम धर्म और कर्तव्य का सापेक्षत्व

हमारे देश में वर्णाश्रम-धर्म द्वारा प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य पहले से ही निश्चित कर दिया गया है । यह बात कहां तक निर्विवाद है इसके लिये हम कुछ न कह कर इतना अवश्य कहेंगे कि, वर्णाश्रम-धर्म कर्तव्य-शास्त्र की बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है । प्रत्येक वर्ण और आश्रम के भिन्न भिन्न धर्म्म होने के कारण सब मनुष्यों का एक सा कर्तव्य नहीं रहता । इसका यह अर्थ नहीं कि कर्तव्य का आदर्श बदल जाता है, किंतु समाज में आदर्श की पूर्त्ति के भिन्न भिन्न साधन होना आवश्यक है । समाज की अनेक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार और रुचि के मनुष्य चाहिएँ । इस कारण उनके कर्तव्यों में अवश्य भेद चाहिए । सब का एकसा कर्तव्य नहीं हो सकता । जो ब्राह्मण के लिये कर्तव्य है, वह क्षत्रिय के लिये अकर्तव्य है । सब एक लाठी से नहीं हाँके जा सकते । समाज में यदि सब ही लोग मनन-शील बन जावें, तो उसका चलना कठिन हो जाय । वर्ण-विभाग कर के हिंदू धर्म ने कर्तव्य के सापेक्षत्व (Relativity of Ethics) को भली भांति दिखलाया है । आश्रमों के विभाग कर देने से लोगों के कर्तव्य में बड़ी सुगमता पड़ गई है। विद्योपार्जन के साथ ही साथ धर्मोपार्जन नहीं

यदि तुम धार्मिक युद्ध से मुँह मोड़ोगे तो धर्म और सुयश से हाथ धो कर पाप के भागी होगे ।

हो सकता और धनोपार्जन के साथ मौन-व्रत धारण कर के बन में बैठना नहीं हो सकता । वर्णाश्रम धर्म के यथोचित परिपालन से समाज की अच्छी उन्नति हो सकती है। लोक-संग्रह का भी अर्थ स्थानोचित कर्तव्यों का पालन तथा समाज के धर्म में स्थिति रखना है। समाज में साम्य स्थापित करने के अर्थ किसी काम को कर्तव्य-दृष्टि से करना सच्चा निष्काम कर्म है और इसीमें सच्ची आत्म-प्रतीति भी होती है, क्योंकि समाज आत्मा का ही विकाश है। अपना स्वार्थ छोड़ सामाजिक हित के अर्थ कर्म करना 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' का ही अर्थ रखता है, क्योंकि मनुष्य-समाज ईश्वर की सत्ता का श्रेष्ठ व्यंजन है।

आत्मा की सत्ता में विश्वास रक्खे। विना समाज की स्थिति चाहना वृथा है।

समाज में साम्य किस लिये स्थापित करना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर देना उन लोगों के लिये जो समाज में अपनी आत्मा का प्रकाश देखते हैं, कुछ कठिन नहीं, किंतु जो लोग आत्मसत्ता में विश्वास नहीं करते, उनके लिये सामाजिक स्थिति वा साम्य एक प्रकार का पाखंड ही है। समाज की स्थिति की चेष्टा किस लिये की जाय? प्रकृतिवादियों की ओर से यह उत्तर मिलेगा, कि समाज की ही स्थिति में व्यक्ति का पूर्ण लाभ है। ठीक है, मनुष्य की चेतना को मस्तिष्क के परमाणुओं की क्रियाओं का परिणाम माननेवाले लोगों के मत में व्यक्ति की स्थिति का भी कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता। मनुष्य इस संसार की आकस्मिक क्रियाओं का फल है। इस प्रकृति के विशेष संघात (जिसे कि मनुष्य कहते हैं) के जीवित रहने से क्या लाभ? यदि यह कहा जाय कि इस विशेष संघात का मूल्य बहुत बढ़ गया है तो

ठीक है. किंतु वह मूल्य किस के लिये है और उसका जानने वाला कौन है ? इसका कुछ उत्तर नहीं। हम पहले बता चुके हैं, कि आस्तिकता के दृढ़ आधार पर ही कर्त्तव्य-शास्त्र का भव्य-भवन बनाया जा सकता है। जब तक हम आत्म-भाव (Personality) के विशेष मूल्य को न मानेंगे तब तक हम संसार में मूल्यों के समझनेवाले को मान कर विज्ञान की संकुचित दृष्टि को विस्तृत न कर सकेंगे। जब तक हम सारे समाज को एक ही ज्ञान स्वरूप सत्ता (आत्मा) का विकाश न समझेंगे, तब तक 'सर्वभूतहितेरताः' 'समाज में साम्य स्थापित करना', 'समाज की स्थिति बनाए रखना', 'जीवन की मात्रा को बढ़ाना' ये सब वाक्य निरर्थक ही रहेंगे।

सामाजिक विकाश और उसकी वर्त्तमान स्थिति भी समाज के आध्यात्मिक आधार होने के साक्षी हैं। समाज में,

हमारे आदर्श और सामाजिक संस्थाएँ

इतनी ख़राबी होने पर भी, अपने कर्त्तव्य-पालन की स्वतंत्रता है। मानसिक आदर्श के अनुकूल ही हमारा सामाजिक संस्थान भी बनता जा रहा है और हमारी सामाजिक संस्थाओं के अनुसार हमारे कर्त्तव्य संबंधी विचार दृढ़ होते जाते हैं। दोनों ही एक दूसरे के आश्रय हैं। हमारे देश के अविभक्त कुटुंब, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-धर्म, पाठशालाएँ, उत्सव, रीति-व्यवहार आदि सब ही उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित एकात्मवाद की अनुकूलता दिखा रहे हैं। हमारे यहाँ के प्रतिभाशाली तत्त्ववेत्ताओं ने स्वतंत्र लेखक होने का गौरव अस्वीकार कर अपने को टीकाकारों अथवा भाष्यकारों की नीची कोटि में रखकर ही अपने जीवन को सफल समझा है। गृहस्थाश्रम के धर्म ऐसे रक्खे गए हैं, जिनमें ऐक्य भाव

स्वतः ही उत्पन्न होता रहे। यह आश्रम बड़ा भारी कर्त्तव्य-स्थल है। इसीलिये इसकी महिमा भी बहुत है। मनु महाराज ने कहा है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ ३। ७७
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ ३। ७८
ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानतः॥ ३। ८०*

और स्थानों में भी गृहस्थाश्रम की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है-

न्यायार्जितधनस्तत्वज्ञानानिष्ठोऽतिथिप्रियः।
शास्त्रवित्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥†
सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी।
सन्मित्रं सुधनं सुयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः॥‡

---

* अर्थ—जिस प्रकार सब जीव-जंतु वायु का आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार इतर सब आश्रम गृहस्थाश्रम के ही सहारे बसते हैं। अन्य तीन आश्रम वाले लोग गृहस्थ लोगों से ही अन्न और ज्ञान प्राप्त करते हैं, इसलिये गृहस्थ आश्रम और आश्रमों से बड़ा है। ऋषि, पितर, देव, जीवधारी और अतिथि सब ही गृहस्थाश्रम का सहारा लेते हैं, इस गृहस्थाश्रमवाले को इनके प्रति अपना धर्म जान कर करना चाहिए।

† अर्थ—न्यायपूर्वक धन कमानेवाला, आत्मज्ञान में निष्ठा रखनेवाला, अतिथि-सेवा करनेवाला, शास्त्र को जाननेवाला और निरंतर सत्य बोलनेवाला गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।

‡ अर्थ—उस गृहस्थाश्रम को धन्य है, जहां आनंददायक गृह है, जहाँ बुद्धिमान पुत्र हैं, जहाँ स्त्री कटुभाषिणी नहीं है, जहाँ अच्छे मित्र हैं, खूब धन है, जहाँ स्त्रियों के प्रति प्रेम है, जहाँ नौकर आज्ञाकारी हैं, जहाँ अतिथि-सत्कार होता है, जहाँ ईश्वर का पूजन नित्य होता है, मिठाई आदि भोजन रक्खे रहते हैं, और जहाँ निरंतर ही सज्जनों का समागम होता रहता है।

आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे ।
साधोः संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥

यदि गृहस्थाश्रम में धन का उपार्जन और दान कर्तव्य माना गया है, तो गृहस्थों का दान स्वीकार करने को और आश्रम भी बना दिए गए हैं। यदि संन्यासियों को धर्मोपदेश देने का भार दिया गया है, तो उनके उपदेश से लाभ उठाने के लिये लोग वर्तमान हैं। यदि संसार की स्थिति बनाए रखना और प्रजोत्पादन करके ऋषि ऋण चुकाना धर्म माना गया है, तो उसकी पूर्ति के लिये विवाह की संस्था वर्तमान है। यदि देना धर्म है, तो दान के लेनेवाले भी विद्यमान हैं। यदि समाज का संगठन श्रेय माना गया है, तो उसके लिये राज्य और साम्राज्य वर्तमान हैं। ये सब बातें यह बतलाती हैं कि हमारी सामाजिक संस्थाएँ हमारे आदर्शों के अनुकूल ही बनी हैं और इनके द्वारा हमारे आदर्शों की भली भांति पूर्ति होना संभव है। व्यक्तियों द्वारा यथोचित लाभ न उठाए जाने के कारण बहुत सी संस्थाएँ बिगड़ भी जाती हैं। हम यह मानते हैं कि किसी देश की संस्थाओं का प्रभाव सब मनुष्यों पर एकसा नहीं पड़ता, क्योंकि देखा गया है कि जहां पर बहुत से विवाह करना मना नहीं है, वहां पर भी बहुत से लोग एकपत्नीव्रत को दृढ़तः पाल रहे हैं। और जहां पर कि समाज में एक स्त्री से अधिक रखने की आज्ञा नहीं, वहां पर भी बहुत से लोग इस रिवाज से यथोचित लाभ नहीं उठाते। तथापि इस में कुछ संदेह नहीं, कि सामाजिक संस्थाएँ हमें कर्तव्य-परायण बनाने में बड़ी सहायता देती हैं, और हमारे आदर्शों का भौतिक ढांचे की भांति काम करती हैं।

जिस प्रकार किसी कार्य को करते करते व्यक्ति का स्वभाव बन जाता हैं उसी प्रकार सामाजिक संस्थाएँ समाज का स्वभाव हैं; और जिस तरह मनुष्य स्वभाव से जाना जाता है, वैसे ही समाज अपनी संस्थाओं द्वारा जाना जाता है । यूनान देशीय आदर्श वहां की संस्थाओं में वर्तमान थे । हमारे देश के वर्णाश्रम धर्म इस बात को क्याही विद्वत्ता से प्रमाणित कर रहे हैं कि सामाजिक संस्थाएँ मानव-जीवन को कहाँ तक बुरा भला बना सकती हैं । कभी ऐसा भी देखा गया है कि सामाजिक संस्थाएँ समाज के आदर्श के अनुकूल नहीं रहतीं । तब ही धर्म का ह्रास होने लगता है । धर्मोद्धार की आवश्यकता पड़ने लगती है, आवश्यकता के अनुकूल उनका आविर्भाव भी होने लगता है । श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है कि—

सामाजिक संस्थाएँ और धार्मिक उन्नति ।

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

समाज के आदर्श को स्पष्ट करना और उससे संस्थाओं की संगति करना ही धर्मोद्धारक का मुख्य कर्तव्य होता है । यह कार्य धर्मोद्धारकों के ही बांटे में नहीं पड़ा, वरन् प्रत्येक छोटे से छोटा मनुष्य भी पूरा धर्मोद्धारक है । इसलिये उस का कर्तव्य है कि समाज के आदर्शों की, उसके धर्मों की और संस्थाओं की एकता करके, और अपने आदर्श को समाज के आदर्श में मिला कर और अन्यान्य आदर्श और संस्थाओं के अनुकूल अपने कर्मों को बना कर समाज में अपनी पूर्ण आत्म-प्रतीति करे ।

इस अध्याय की समाप्ति के पूर्व समाज की व्याप्ति पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि समाज का संकुचित अर्थ माना जाय, तो उसकी व्याप्ति किसी विशेष संप्रदाय के लोगों से बाहर नहीं जाती, किंतु उसके विस्तार का अंत नहीं हो सकता। घर से लगा कर मानव जाति तक समाज का घेरा है। क्या हम इस घेरे को और नहीं बढ़ा सकते हैं? क्या पशु पक्षी और कीट पतंगों को भी हम अपने समाज में सम्मिलित कर सकते हैं? इसके उत्तर में कहा जायगा कि जिन जीवों का इतना विकाश हुआ है कि वे हमारी गोष्ठी में सम्मिलित किए जांय वे उसमें सम्मिलित किए गए हैं। मनुष्य और जानवरों का क्या संग? समाज के व्यक्तियों में एक दूसरे को सहायता देने का पारस्परिक भार रहता है। मनुष्य और पशुओं में पारस्परिक संबंध नहीं हो सकता है, इसलिये उन्हें मनुष्य समाज में स्थान देना असंभव है। इस विषय में एक और भी बाधा उपस्थित हो सकती है, कि समाज में व्यक्तियों का संबंध होता है और बहुत से जानवरों में व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। इन तीनों बाधाओं पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। विकाश की श्रेणी में पशु पक्षी अवश्य नीचा स्थान पाते हैं, किंतु क्या यह बात उनको हमारी दया, अनुकंपा और सहायता से वंचित रखने के लिये ठीक है? यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो मनुष्य समाज में भी विकाश की कई श्रेणियाँ हैं, किंतु आजकल की सभ्यता में सब का जीवन-मूल्य बराबर समझा जाता है। सभ्य मनुष्य के मारने पर भी फांसी होती है और असभ्य, जंगली मनुष्य, पागल वा बालक के मारने पर भी वही दंड दिया जाता है? क्या यह जीवन-

समाज के अंत का विस्तार।

सम्मान (Respct for life) मनुष्य-समाज में ही संकुचित रखना चाहिए? क्या अपने विचार में जीवन की शृंखला पीछे नहीं हटाई जा सकती? क्या हम उसी जीवन-शृंखला की एक कड़ी नहीं, जिसके कि पशु पक्षी हैं? क्या जानवरों को जीवित रहने का वही नैतिक अधिकार नहीं जो हम लोगों को है? क्या उनका मूल्य उनके समाज में उतना ही नहीं जितना कि हमारा मूल्य हमारे समाज में है? दांपत्य-प्रेम तो कहीं कहीं जानवरों में मनुष्यों ही के बराबर देखा गया है। क्या पशु पक्षी कीट पतंग इस विश्व के कार्य-विभाग में स्थान नहीं पाते? क्या विकाश-वाद के मत से जीव-धारी मात्र एक कुटुंब के नहीं हैं? पशु पक्षी कीट पतंग संसार के कार्य-विभाग में अपना अपना काम कर रहे हैं। वृक्षों के फल-वान होने में पक्षी कीट पतंग कहांतक साहाय्य देते हैं, यह बात किसी विज्ञ पुरुष से छिपी नहीं है। हम जिन श्रेणियों द्वारा विकाश को प्राप्त हुए, अब ऊँचे बन कर उनका तिरस्कार करना हमारी उच्चता को शोभा नहीं देता। दूसरी बाधा पर विचार करते हुए हम केवल इतना ही कहेंगे, कि बदले का व्यवहार कानून की दृष्टि में चाहे आवश्यक हो, किंतु धर्म और कर्त्तव्य दृष्टि से यह बाहर है। कर्त्तव्य-पालन द्वारा हम को सद्गुण-वृद्धि तथा आत्म-तुष्टि सरीखे मधुरतम फल मिलते हैं। यदि बदले की रीति से देखा जाय, तो भी मनुष्य अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकता। पशुओं से जो मनुष्य-जाति का उपकार हुआ है, वह हिंसक पशुओं द्वारा पहुँचाई हुई हानि से अधिक है। खैर, इस बात को जाने दीजिए। मनुष्य समाज ने हिंसक पशुओं से बदला लेने में कुछ रख नहीं छोड़ा। केवल इतना ही नहीं। वरन् और पशु भी, जो मनुष्य-जाति

की हानि करते हैं, मनुष्य द्वारा उचित दंड पाए बिना नहीं रहते। फिर मनुष्य को क्या अधिकार है कि वे निरपराध पशुओं को सतावें ? वे तो बदला ले नहीं सकते। पारस्परिक उपकार का एक प्रकार से प्रश्न भी नहीं उठता। पशु-संसार मनुष्य से उपकार नहीं चाहता, वह तो अभय-दान चाहता है। वह सहायता नहीं चाहता, केवल इतना ही चाहता है, कि मनुष्य अपनी हननेच्छा को थोड़ा वश में रक्खे। मनुष्य की उनके प्रति इतनी ही सेवा पर्याप्त है, कि वह उन्हें जीवित रहने दे। वे ऐसी सेवा चाहते हैं, जैसी कि निषाद ने श्रीरामचंद्र को अपनी सेवा बतलाई थी, कि 'यह हमार अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न भूषण वसन चुराई'। तीसरी कठिनाई, जो व्यक्तिता के विषय में है, पहली कठिनाई से मिलती जुलती है। व्यक्तिता की भी श्रेणी है। माना कि पशु पक्षियों की व्यक्तिता मनुष्य की भांति स्पष्ट नहीं है, और न उनमें मनुष्य का सा आत्म-भाव (Personality) ही वर्तमान है, किंतु उनमें व्यक्तिता और आत्म-भाव किसी न किसी अंश में हैं अवश्य। उनकी व्यक्तिता उस पौधे की भांति है, जो थोड़ा ही बढ़ कर रह गया है। यदि जानवरों में मनुष्य की ऐसी व्यक्तिता और आत्मभाव वर्तमान होता, तो उस अवस्था में वे मनुष्य की बराबरी का ही दावा कर सकते थे! किंतु इस अवस्था में क्या वे जीवन दान की भी आशा नहीं रख सकते? वे मनुष्य की बराबरी नहीं चाहते, वे मनुष्य की राजनैतिक सभाओं के सदस्य नहीं होना चाहते, जिसके लिये उनकी मानसिक योग्यता पर विचार किया जाय। वे तो जीवधारी हैं, इसीसे केवल जीवित रहने का अधिकार चाहते हैं? इन सब बातों पर विचार करके हम

अपने समाज की सीमा को प्राणिमात्र तक बढ़ा दें, तो हम अपनी सच्ची आत्म-प्रतीति के सच्चे सहायक ही बनेंगे। समाज को इस विस्तृत दृष्टि से देखने के लिये हमको अपने आत्म संबंधी विचारों को भी विस्तार देना होगा। जैसे जैसे हमारे आत्म-संबंधी विचार विस्तृत होते जाते हैं, वैसे ही हमारी आत्म-प्रतीति का क्षेत्र बढ़ता जाता है। जो लोग अपनी व्यक्तिता में ही अपनी आत्मा को संकुचित कर देते हैं; उनकी आत्म-प्रतीति स्वार्थ-साधन में ही होती है। किंतु हम उसे सच्ची आत्म-प्रतीति नहीं कह सकते। सच्ची आत्म-प्रतीति तब ही हो सकती है, जब हम अपनी आत्मा को पूरा विस्तार दे कर समष्टि की आत्मा से मिला दें और समष्टि के हित को अपना हित समझें। यह बात कठिन नहीं है। बहुत से लोग आत्म-कल्याण को देश के हित-साधन में देखते हैं, और बहुत से इससे भी आगे बढ़ कर अपने हित को साम्राज्य के हित में मिला देते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो मनुष्यमात्र का हित और अपना हित एक कर देते हैं। इससे भी एक ऊँची श्रेणी प्राणिमात्र से अपनी एकता करनेवालों की है। हिंदू धर्म-ग्रंथों ने अधिकतर इसी विस्तृत भाव का उपदेश दिया है। स्मृति ग्रंथों में अतिथि-सत्कार के साथ जानवरों को भी भाग देना गृहस्थों का धर्म बतलाया है 'सर्वभूतहितेरतः' 'जीवेषु दयां कुर्वंति साधवः' 'निर्वैरः सर्व भूतेषु' 'आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति स पश्यति' इत्यादि वाक्यों द्वारा कर्तव्य को मनुष्य-समाज से बढ़ा कर प्राणि-मात्र के प्रति कर दिया है। यही पूर्ण आत्म-संभावन वा आत्म-प्रतीति है।

कुछ लोग इस विस्तृत दृष्टि पर यह शंका अवश्य उठावेंगे

कि जो लोग अपने दृष्टि-कोण को इतना विस्तृत कर देंगे उनको कोई भी पदार्थ स्पष्टतः न दिखाई पड़ेगा। जो लोग सब के हित में तत्पर रहते हैं, वे किसी के भी हित-साधन में सफल नहीं होते। कभी कभी ऐसा भी होता है, कि निकट-वर्तियों के हित में और मनुष्य मात्र के हित में विरोध पड़ जाता है, और जिनके प्रति हमारा मुख्य कर्त्तव्य है, वे हमारी उदारता से वंचित रह जाते हैं, इस लिये प्राणिमात्र के हित-साधन की इच्छा न करते हुए समाज के एक परिमित भाग का ही हित-साधन श्रेय है। यह शंका क्रियात्मक है। इस शंका से हमारे सिद्धांत के न्याय्य होने में बाधा नहीं पड़ती। अब, इस पर कर्तव्य-बुद्धि से भी विचार कर लेना चाहिए। इस शंका के उठानेवाले स्वार्थ पर पूर्णतया विजय नहीं प्राप्त कर सकते। व्यवहार में स्वार्थ को जीतना कठिन है, किंतु यह बात किसी सिद्धांत की सत्यता में बाधा नहीं डाल सकती। इस शंका का मूल इस विचार में है कि उपकारी मनुष्य के निकट-वर्ती लोग उसके उपकार से लाभ उठाने के अधिकारी हैं। अँग्रेज़ी में एक लोकोक्ति है कि 'Charity begins at home' अर्थात् दान का आरंभ घर से ही होना चाहिए। किंतु इसके ऊपर किसी ने यह भी कहा है 'But it should not end there' अर्थात् उसका अंत घर में ही न हो जाना चाहिए। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि घर के लोग भूखों मरें और बाहरवालों को धन लुटाया जाय, किंतु इतना अवश्य मानना पड़ेगा, कि जो स्वार्थ-त्याग, आत्म-समर्पण और उदारता के गुण मनुष्यमात्र के लिये उदारता

समाज की व्याप्ति बढ़ाने मे संभावित आपत्तियाँ और उनका निराकरण।

दिखलाने में बढ़ते हैं, वे निकटवर्ती लोगों के साथ दिखाने में नहीं बढ़ते।

निकटवर्ती लोगों के साथ उपकार करने में एक प्रकार का उदात्त स्वार्थ लगा रहता है। * बाइबिल में ईसा मसीह ने डाकुओं द्वारा आहत एक मनुष्य का आख्यान कहते हुए बतलाया है कि 'तेरा पड़ोसी वही है, जिसके साथ तू उपकार कर सके।' जब हम अपना स्वार्थ छोड़ कर "वसुधैव कुटुंबकम्" के सिद्धांत को मानने लगेंगे, तब समीप और दूर के लोग बराबर हो जायँगे। यह अवश्य मानना पड़ेगा, कि कोई एक मनुष्य सारे विश्व का उपकार नहीं कर सकता। वह अपने निकटवर्ती लोगों के साथ ही उपकार करेगा। किंतु उपकार करते समय, जिस बुद्धि से कार्य किया जाय, उसमें ही स्वार्थ और परार्थ हो जाता है। जब हम किसी का उपकार स्वार्थ-बुद्धि से करते हैं, तब हम स्वार्थी हैं, किंतु जब स्वार्थ-त्याग कर किसी का उपकार करते हैं, तब हम विश्व का ही हित साधन करते हैं। जिस मनुष्य का हम उपकार करते हैं, वह विश्व का एक अंग है और अंग अंगी से पृथक् नहीं। जो हमारी किसी अँगुली पर मरहम लगावे, तो वह हमारे सारे शरीर की ही सेवा करता है। हम उपकार चाहे जिसके साथ करें किंतु हमारी बुद्धि निस्वार्थ होनी चाहिए। यदि हम निकट-वर्ती लोगों के साथ उपकार कर रहे हैं, और कोई ऐसा अवसर आ जाय, कि दूर का मनुष्य हमारी सहायता की आवश्यकता रखता हो, और उसको सहायता पहुँचाना संभव भी हो और हम उसकी सहायता न करें, केवल

---

* लूकरचित सुसमाचार अध्याय १० । ३०-३७

इस विचार से, कि उस मनुष्य से हमारा कोई संबंध नहीं, तो हम को विश्व-हित के विरुद्ध जाना होगा। यदि यह कहा जाय कि देश-हित और मानव जाति के हित में कभी कभी विरोध पड़ता है, अथवा कुटुंब के हित और समाज के हित में विरोध पड़ता है, तो क्या ऐसी अवस्था में विस्तृत दृष्टि ही श्रेय है ? देखा गया है कि, बहुत से बड़े बड़े आदमियों ने देश-हित के लिये कुटुंब के हित को तिलांजलि दी है। राज-कीय आईन की मान-मर्यादा रखने के लिये अपने पुत्र वा निकटवर्ती कुटुंबियों को प्राणदंड तक दिया है। अपनी रक्षा कुटुंब की रक्षा से है, कुटुंब की रक्षा देश की रक्षा से है, देश की रक्षा मानव-जाति की रक्षा से है और मानव-जाति की रक्षा विश्व की स्थिति में हैं। अभी जो देश और मानव-जाति के हित में विरोध पड़ा करता है, उसका कारण यह है कि मानव-समाज में अभी भिन्न भिन्न आदर्श वर्तमान है। जैसे जैसे आदर्शों की एकता होती जायगी और जैसे जैसे मनुष्य-समाज एक प्रेम-सूत्र में बँधती जायगी, वैसे ही देश-भक्ति और विश्व-प्रेम में विरोध घटता जायगा। मानव-जाति का एक बड़ा साम्राज्य बन जायगा, जिसमें पशु पक्षी आदि भी अपना उचित स्थान पावेंगे। एक नियम बद्ध होने से विरोध घट जाता है। मनुष्य-समाज इस आदर्श की ओर जा रहा है। इस आदर्श की पूर्त्ति में योग देना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। एक नियम और आदर्श में बद्ध समाज में रह कर ही सच्ची आत्म-प्रतीति की संभावना है। जो इस संभावना को वास्तविकता में परिणत करने की चेष्टा करते हैं, वे उस चेष्टा में अपनी आत्म-प्रतीति कर रहे हैं। इस अध्याय में कर्तव्य के स्थल का वर्णन हो चुका। अगले अध्याय में यह बतलाया जायगा कि हमारा

आदर्श हमारे सामाजिक धर्मों में किस प्रकार घट सकता है, और हमको अपने कर्तव्य में किन किन बातों को स्थान देना चाहिए। जब समाज में रह कर और समाज के हित से अपना हित मिला देने ही में आत्म-प्रतीति की आशा है, तो समाज में प्रतिष्ठित धर्मों को अपने आदर्श में घटाना आवश्यक है।

ग्यारहवाँ अध्याय

कर्तव्य-परायण जीवन।

आदर्श पूर्ति।

जो कार्य कि व्यष्टि में समष्टि और भेद में अभेद का ज्ञान कराने में योग देते हैं, वेही कार्य श्रेय हैं और जो भेद को बढ़ानेवाले हैं, वेही हेय हैं। यह सिद्धांत कर्तव्य का मूल है। इसका पालन प्रत्येक देश और काल के लोग अपने अपने मानसिक विकाश के अनुकूल भिन्न भिन्न रीति से करते आए हैं। सब देशों की आचार पद्धति एकसी नहीं है यह भेद उन देशों के निवासियों के मानसिक विकाश में भेद होने के कारण होता है। जैसे जैसे ज्ञान बढ़ता है, वैसे ही वैसे मनुष्य-समाज में इस आदर्श को पालन करने की योग्यता प्राप्त होती जाती है। आदर्श एक ही रहता है किंतु उसकी पूर्त्ति के साधन ज्ञान के विकाश एवं भिन्न भिन्न जातियों की मानसिक भौतिक और राजनैतिक अवस्थाओं के अनुकूल बदलते रहते हैं। हमारा आदर्श ऐसा नहीं कि जिसे हम एक साथ प्राप्त कर लें। उसकी उत्तरोत्तर प्राप्ति होती रहती है। जो कार्य्य इस कार्य्य की पूर्त्ति में जितना योग देते हैं उतने ही वे कर्त्तव्य-दृष्टि से श्रेय समझे जाते हैं। किंतु किसी कार्य्य की नैतिक योग्यता के ऊपर विचार करने से पूर्व हमको कर्त्ता की मानसिक अवस्था और उसकी जातिवालों की रीति रिवाज और सभ्यता उपस्थित हो जायगी। ऐतिहासिक विषयों के समझने में भी हमको इस नियम के ऊपर ध्यान रखना आवश्यक है।

अब यह देखना है कि, हमारे भारतवर्ष में जो आचार पद्धति भिन्न भिन्न ऋषियों ने प्रशस्त की है, वह कहां तक इस आदर्श के अनुकूल पड़ती है। कोई सिद्धांत पूर्णतया तब ही समझ में आता है, जब कि हम यह जान लें, कि वह व्यवहार में किस प्रकार लागू होता है। महाभारत के शांति पर्व में सत्य के तेरह रूप बतला कर निम्नोल्लिखित श्लोकों में एक अच्छी आचार-पद्धति बतलाई है—

भारतीय आचार पद्धति।

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्य्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र ! सत्याकारास्त्रयोदश: ॥
शान्तिपर्व १६२ । ८,९ *

---

* मनु महाराज ने नीचे के श्लोक मे धर्म के दश लक्षण बतलाए है ।

धृतिःक्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

धर्म के इन लक्षणो के ऊपर विचार करने से ज्ञात होगा कि ये सब लक्षण भी हमारे आदर्श के अनुकूल ही है। इनमे से अधिकांश लक्षणो का वर्णन महाभारत के श्लोको की व्याख्या करने मे आ ही गया है जो शेष रह गए उनमे पाठक स्वयं ही हमारे आदर्श की व्याप्ति देख लेंगे ।

प्लेटो (४२७—३४२) ने चार मुख्य धर्म अथवा सद्गुण (Cardinal Virtues) माने है। उनके नाम ये है दम (Temperence) शूरता (Courage) ज्ञान (Wisdom) न्याय (Justice)। कुछ लोगो का विचार यह है कि इनमे से पहले तीन हमारे मन की तीनों प्रवृत्तियों से संबंध रखते है और चौथे गुण में सब गुणों का योग हो जाता है। प्लेटो ने अपनी Republic नामक पुस्तक मे न्याय का वर्णन अच्छा दिया है। ये सब गुण समाज में भी लगाए गए हैं और व्यक्ति में भी। समाज के संबंध मे न्याय प्रत्येक जाति के लोगों को स्वस्थानोचित धर्म मे चलाना है।

अर्थात् सत्य, समता, दम, वृथाभिमान का अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, डाह का न होना, आर्यत्व अथवा दूसरों के प्रति श्रेष्ठ व्यवहार, धीरता, दया और अहिंसा, हे राजेंद्र! सत्य के ये तेरह रूप हैं। इनमें से पांच धर्म (दम अमात्सर्य्य ह्री धृति तितिक्षा) का संबंध विशेष करके कर्त्ता से है, बाकी जो शेष रह गए उनका संबंध समाज से है। बहुत से कर्त्तव्यशास्त्र-वेत्ताओं ने धर्म अथवा सद्गुणों (Virtues) के दो विभाग किए हैं। कुछ गुण Self-regarding अर्थात् स्वसंबंधी माने गए हैं और कुछ पर-संबंधी Other-regarding माने गए हैं। विचार-दृष्टि से देखने पर यह भेद अनावश्यक प्रतीत होगा। समाज में ऐंद्रिक संबंध होने के कारण स्व पर के बीच की रेखा मिट सी जाती है। क्या कर्त्ता की धीरता, ह्री और तितिक्षा से समाज को लाभ नहीं पहुँचता और क्या दया और समता से कर्त्ता की आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती?

अब क्रमशः सत्य के इन रूपों पर विचार किया जायगा। सब से पहले तो यह विचारने योग्य है कि सत्य को सदाचरणों की गणना में सब से ऊँचा स्थान क्यों मिला और इन सब आचरणों को सत्य का रूप ही क्यों कहा? इसका कारण यह है कि सब सत्कर्मों का उदय विचार में होता है

व्यक्ति के संबंध में यह गुण नीची प्रवृत्तियों को बुद्धि के अनकूल बनाने से प्राप्त होता है। अरस्तू (३८४–३२२) ने इन गुणों में आत्मगौरव, उदारता, नम्रता, मित्रता, सत्य, वाक्पटुता आदि गुणों को जोड़ कर अपनी गुणगणना को तात्कालिक यूनानी समाज के अनकूल बना दिया था। इसाई धर्म ने बाहरी गुणों की ओर विशेष ध्यान न देते हुए आंतरिक शुद्धि, आशा, श्रद्धा, दया आदि आंतरिक गुणों की ओर अधिक ध्यान दिया। विचार करने पर ये गुण हमारे आदर्श में घटाए जा सकते हैं।

और विचारों की एकता अथवा साम्य को ही सत्य कहते हैं। सत्य हमारे आदर्श के अनुकूल ही नहीं, वरन् वह उसका रूपांतर ही है। सत्य का अर्थ 'साम्य' है और साम्य ही सब आचरणों का मूल है। अब जरा विचारिए कि, सत्य से किस प्रकार भेद में अभेद दिखाई पड़ता है। हम किसी बात को सत्य तब ही कहते हैं, जब कि किसी विषय में सब लोगों का एकसा अनुभव हो अथवा व्यक्ति के त्रिकाल-सिद्ध अनुभव में भेद न हो। सत्य ही भेद का नाशक है सत्य से बढ़ कर भेद और विद्रोह का नाश करनेवाला कोई नहीं। दो प्रतिद्वंदी दल, जो कि लड़ने को खड़े हों, एक दूसरे के साथ चाहे जितना द्रोह रखते हों, किंतु सत्य में उनकी भी एकमनस्कता है। हमारे इस सिद्धांत में सत्य के अपवादों को भी उचित स्थान मिल जायगा। साधारणतया सत्य में अपवादों के लिये स्थान नहीं। 'सत्यमेव जयते' प्रायः सब ही स्थलों में बैठता है।

सत्य के बाद समता है। यह भी थोड़े बहुत अंतर में सत्य के साथ सत्य के बराबर ही व्यापक धर्म है। समता तो स्वयं अभेद ही है। सत्य, विचार और क्रिया दोनों ही में होता है और समता विशेष कर क्रिया से संबंध लगाती है। क्रिया में समता की बड़ी महिमा है। गीता में पूर्व-वर्णित आदर्श से संगति रखते हुए सब के साथ समता का व्यवहार रखना बतलाया है। कहा है कि—

> विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
> शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ †

† विद्वानों, विनीतों, ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चांडाल को समदृष्टि से देखनेवाले ही पंडित हैं।

इससे अधिक और विस्तृत समता की व्याख्या क्या हो सकती है? समता ही सारी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक उन्नति का मूल है। यह आदर्श पूर्व में बहुत प्राचीन काल से लाया गया है। हमारे देश में यह सिद्धांत जितना प्राचीन और जितना विस्तृत रूप से वर्तमान है, वैसा शायद किसी भी देश में न हो। हमारे यहां समता का सिद्धांत पशु-पक्षियों और कीट-पतगों तक उपयुक्त किया गया है। यही समता दया, अहिंसा आदि सद्गुणों का मूल है। इस पर दो श्लोक भी हैं—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥
प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति॥ *

जिस प्रकार आत्म-रक्षा मुझ को प्रिय है उसी प्रकार वह सब के ही लिये प्रिय है। अतएव हमको अपनी आत्म-रक्षा की ऐसी सीमा रखनी चाहिए, जिससे औरों की आत्म-रक्षा में बाधा न पड़े। यही दया और अहिंसा का उद्देश्य है। †

समता की दृष्टि से सब को देखने में द्वेषाभाव तथा कलह-शांति हो जाती है। जहाँ मनुष्य को यह विचार होता है कि, शायद मैं भी ऐसी स्थिति में ऐसा कर बैठता वहीं विरोध की शांति और क्षमा का उदय हो जाता है। क्षमा भी समता का

* जिस प्रकार जीवन हमको अभीष्ट है वैसे ही और प्राणियों को भी है, अतः महात्मा पुरुष अपनी तरह समस्त प्राणियों पर भी दया करते हैं।

हित अनहित में, सुख दुःख में, दान और प्रशंसा आदि में अपनी स्वतः की दशा को विचार कर काम करनेवाला मनुष्य ही विश्वास योग्य होता है।

† इस सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या 'प्रेम-मंदिर' आरा से प्राप्य शांति-धर्म में देखिए।

ही रूप है। जो लोग सबको आत्म-रूप ही देखते हैं, वे दूसरों को क्षमा करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं। जब सब अपने ही रूप हैं, तो प्रति-हिंसा कहाँ? प्रति-हिंसा तो दूसरे ही के साथ होती है। प्रति-हिंसा न करने को ही क्षमा कहते हैं। समता के साथ दया, अहिंसा और क्षमा सब ही आ जाते हैं। क्षमा भी प्रति-हिंसा का अभाव होने के कारण अहिंसा का ही रूप है। दम का स्थान ऊपर बताया गया है। प्रवृत्तियों को बुरी ओर से हटा कर ठीक ओर लगाने को ही दम कहते हैं। दम से स्वार्थ-मूलक प्रवृत्तियों का नाश होता है। अतएव दम भी अभेदत्व प्राप्त करने में सहायक है। अमात्सर्य वृथा अहंकार के अभाव को कहते हैं। वेदांत का सिद्धांत, जिसे कि हम क्रिया में परिणत करना चाहते हैं, अहंकार को तो समूल ही नाश करता है। अभेद-दृष्टि से देखने में दंभ और अहंकार नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् लज्जा भी अमात्सर्य का दूसरा रूप है। ह्री का ठीक अर्थ अँग्रेज़ी में Modesty होगा। जब मनुष्य संसार में एकता और व्यक्तियों की अन्योन्याश्रयता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब वह अपने किए हुए कर्म की वृथा डींग नहीं मार सकता। उसको अपनी डींग मारने में अवश्य लज्जा आवेगी। ह्री से ही विनय का उदय होता है। महात्मा तुलसीदास जी ने श्रीरामचंद्र के दान देते समय के विनय का जो वर्णन किया है, वह बड़ा शिक्षा-प्रद है। तितिक्षा वा सहनशीलता भी आत्मैकभाव को बढ़ाती है। संसार भर के झगड़े इसी के अभाव से होते हैं। जो लोग दूसरों की बात को सहन कर सकते हैं, वे दूसरों को सचमुच दूसरा ही समझते हैं। तितिक्षा द्वारा दूसरे भी अपने बना लिए जाते हैं। जो लोग

दुःख नहीं सह सकते हैं, वे दूसरों का उपकार क्या करेंगे? दुःख सह कर ही ऐक्य-भाव बढ़ता है।

अनसूयता डाह के अभाव को कहते हैं। डाह तभी तक है, जब तक भेद है। भेद नाश हो जाने पर डाह रहती ही कहाँ? त्याग तो अभेद-दृष्टि का स्वाभाविक फल है ही। दान वेदांत की भित्ति पर ही ठहर सकता है। वेदांत की दृष्टि से परार्थ स्वार्थ बन जाता है। इसी का नाम दान अथवा त्याग है।

आर्यत्व (Gentlemanliness) बड़ा ही व्यापक शब्द है। आत्मौपम्य दृष्टि से देखने पर सब के साथ व्यवहार में सुष्ठुता आ जायगी। धृतिः अथवा धीरता बड़ा उत्तम गुण है। इसका अभाव स्वार्थ में है। जब स्वार्थ की मात्रा अधिक हो जाती है, तबही अधीरता प्राप्त होती है। अधीरता का कारण अल्पज्ञान भी होता है। अभेद दृष्टि से देखने में स्वार्थ और अज्ञान दोनों ही का नाश हो जाता है और धैर्य का गुण आप से आप बढ़ने लगता है।

ऊपर की आलोचना से पाठकों को विदित हो गया होगा कि सब धर्मों का मूल भेद में अभेद देखना है। किंतु इससे यह न अनुमान कर लेना चाहिए कि मूल हाथ आजाने से सब वृक्ष ही मिल जायगा! बीज के खाने से फल का स्वाद नहीं आता। भेद में अभेद का जो सात्विक ज्ञान है, वह जिस प्रकार सब सदाचरणों का कारण है, उसी प्रकार उनका कार्य है। इसीलिये मनुष्य को कर्त्तव्य-परायण जीवन की आवश्यकता है। यह ज्ञान ऐसा पदार्थ नहीं कि एक साथ गड़े हुए खज़ाने की तरह हाथ में आ जाय और

क्रियात्मक बनने की आवश्यकता।

एक वार प्राप्त कर लेने पर मनुष्य की इतिकर्त्तव्यता हो जाय। इस ज्ञान की प्राप्ति उत्तरोत्तर होती रहती है। प्रत्येक सत्कार्य इस ज्ञान को बढ़ाता है। ज्ञान अनुभव से ही प्राप्त होता है और अनुभव के लिये क्रिया परमावश्यक है। जो लोग सत्कार्यों के बिना ही ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, वे उसको बिना उचित मूल्य दिए खरीदना चाहते हैं। ज्ञान से सदाचरण और सदाचरण में ज्ञान। इसलिये ज्ञान-जिज्ञासुओं को क्रिया से उदासीन न होना चाहिए।

हमारी क्रियाएं मुख्यतः तीन ओर जाती हैं, धर्म (Religion or Ethics) अर्थ (Economics) और काम (Aesthetics)। अब इतना विचार करना

हमारे जीवन में धर्म अर्थ और काम का स्थान

अवशेष रहा कि कर्त्तव्य-परायण मनुष्य को अपने जीवन में इनको क्या स्थान देना चाहिए। इसमें "सर्वमत्यंत गर्हितम्" क नियम पालन करते हुए, यह विचार करना चाहिए कि धर्म में तो व्यक्ति को अप्रधान करके समष्टि की सेवा करनी पड़ती है। अर्थ में समष्टि को अप्रधान बना कर व्यष्टि की सेवा करनी होती है और काम में व्यष्टि और समष्टि दोनों ही की दृष्टि रहती है, किंतु व्यष्टि की दृष्टि को प्रधान रक्खा है। समाज का ऐंद्रिक संबंध दिखाते हुए यह बतलाया गया था कि व्यष्टि के हित में समष्टि का हित है और समष्टि के हित में व्यष्टि का। जो लोग उचित मात्रा में स्वार्थ साधन करते हैं, उनसे व्यष्टि में हानि नहीं पहुँचती, किंतु व्यष्टि अथवा व्यक्ति का पूर्ण हित समष्टि के हित में ही है। इसलिये धर्म का आचारण मुख्य माना है, किंतु अर्थ और काम का धर्म से कोई स्वाभाविक विरोध नहीं। इसी

लिये, जहां तक ये एक दूसरे के वाचक न हों, वहां तक ये सब ही चेष्टा के विषय हैं। साधारणतया धर्म, अर्थ काम तीनों ही के लिये कर्त्तव्यपरायण मनुष्य को अपने जीवन में उचित स्थान देना चाहिए। किंतु जब तीनों में प्रतिद्वंदता हो, तब धर्म ही को प्रधानता दी जायगी, क्योंकि धर्म की तीनों से अधिक विस्तृत दृष्टि है। वह समष्टि में ही व्यष्टि का हित देखता है। जिस प्रकार साधारणतः समष्टि के हित में विरोध नहीं, वैसे ही धर्म, अर्थ और काम में विरोध नहीं है। जब किसी एक की मात्रा अधिक हो जाती है, तब ही विरोध पड़ता है। इसलिये इस बात को देखते हुए, कि ये तीनों एक दूसरे के विरोधी तो नहीं हैं, तीनों ही का आचरण करना चाहिए। नारद जी ने युधिष्ठिर से कुशल प्रश्न* करते हुए यही पूछा है, कि कदाचित् अर्थ से धर्म की हानि तो नहीं होती और धर्म से अर्थ की अथवा दोनों की हानि काम से तो नहीं होती ?

> कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणार्थमथापि वा ।
> उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ॥
>
> सभा ६।१८ *

* मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्र जी ने भी भरत जी से प्रश्न करते हुए धर्म अर्थ और काम तीनों को ही उचित मात्रा में सेवन करने का उपदेश दिया है।

> कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।
> उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥
> कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतावरः ।
> विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे ॥
>
> बाल्मी० रा० अयोध्याकांड सर्ग० १०० श्लो० ६२,-६३

आदिपर्व में भी इसी सिद्धांत को कहा है;

स समं धर्मकामार्थान् सिषेवे सुमनीषिभिः।
त्रीणि वात्मसमान्वन्धून्नीतिमानिव मानमन् ॥†

इस लिये कर्त्तव्यपरायण मनुष्य को अपने जीवन में अर्थ और काम को उचित स्थान देते हुए सदा धर्म का ही आचरण करना चाहिए *।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

---

† उस राजा ने महर्षियों के साथ धर्मार्थ काम अर्थात् त्रिवर्ग का ऐसा ही सेवन किया जैसे साक्षात् मूर्तिमान न्यायरूपी अपने तीनों भाइयों का।

* क्रोची (Croce) ने Philosophy of the Practical में भी यही मत प्रतिपादन किया है।

पहला परिशिष्ट।

कर्तव्य संबंधी रोग, निदान और चिकित्सा।

यह चित्रमय जगत गुण और अवगुणों से भरा पड़ा है। इस संसार सागर में जो लोक रत्नों के लिये डुबकी लगाते हैं उनको कभी कभी भयंकर मगर मच्छों का भी सामना करना पड़ता है। शायद इन मगर मच्छों के भय से मोतियों का महत्व अधिक है। यदि कंकड़ों की भांति मोती सड़क पर पड़े मिल जाते, तो वे कंकड़ों के भाव बिकते। मनुष्य को कर्तव्य-पालन में अनेक बाधाएँ हैं, पद दप पर धर्मच्युत होना पड़ता है। इन्हीं बाधाओं के कारण कर्तव्यपरायण मनुष्य की अधिक प्रशंसा की जाती है। मनुष्य सांसारिक लालचों का सामना करने में बहुत कमजोर है, किंतु वह इस कारण सर्वथा निंद्य और गर्हणीय नहीं है। बहुत से बड़े आदमी भी मोहवश हो कर्तव्यपथ से विचलित हो जाते हैं। उनका पतन ऊँचे स्थान से होने के कारण बहुत ही भयानक होता है। हमको ऐसे मनुष्यों का धार्मिक मूल्य स्थिर करते समय अपने मापक के व्यवहार करने में सख्ती न करनी चाहिए। हमको यह देखना चाहिए कि अमुक मनुष्य का पतन किस कारण हुआ? उसके गुण दोषों की तुलना करके भी देखना चाहिए कि न्याय का पलड़ा किस ओर झुकता है। जिसने कुछ नहीं किया और बैठे बैठे पाप कमाया, वह उस मनुष्य की अपेक्षा अधिक दोषी है, जिसने कि कुछ अच्छे कार्यों के सम्पादन में भूल से दो एक अपराध किए हों। बहुत से गुणों

में एक दोष छिप जाता है। कहा भी है कि " एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।" गुणों के समूह में एक दोष इस प्रकार छिप जाता है, जैसे चंद्रमा की किरणों में उसका ऊपर का चिन्ह। यह बात ठीक है, किंतु दोष छिप ही जाता है, जाता नहीं रहता। साधारण मनुष्य के साथ भी हमको ऐसी ही उदारता का व्यवहार करना योग्य है। किसी मनुष्य को अपनी नैतिक निर्धारण का विषय बनाते हुए यह अवश्य सोच लेना चाहिए कि वह अपनी स्थिति में अन्यथा आचरण करने के कहां तक योग्य था। क्या उसका कुटुंब, उसका समाज, शिक्षा, मानसिक दुर्बलता और अर्थ-कृच्छ्रता उसको अपराधी बनाने में सहायक नहीं? जब अच्छे लोगों की अच्छाई उनके समाज और शिक्षा का फल समझी जाती है, तब यह नियम बुरे लोगों की बुराई में क्यों न लगाया जाय? किंतु जब अच्छे लोग इस सिद्धांत के होते हुए भी प्रशंसा योग्य समझे जाते हैं, तो बुरे आदमी भी निंदास्पद क्यों न गिने जायं? हमको अपराधी के साथ सहृदयता का व्यवहार अवश्य करना चाहिए, किन्तु उसे दंड से मुक्त कर देना भी श्रेय नहीं। जो अपराध समाज के विरुद्ध होते हैं, उनका दंड समाज, पंचायत, न्यायालय आदि संस्थाओं द्वारा दोषी को दिया जाता है। कुछ ऐसे अपराध हैं, जिनका समाज से विशेष संबंध नहीं, उनकी शुद्धि ईश्वर पर छोड़ दी जाती है। अंग्रेजी भाषा में अपराध (Crime) और पाप (Sin) में अंतर किया जाता है, एक समाज के विरुद्ध और दूसरा ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध है। हमारे देश में भी इस बात का थोड़ा अंतर है, किंतु अपराध और पाप के बीच में रेखा खींचना कठिन है।

इतना अवश्य है कि, कुछ अपराध ऐसे हैं, जिनका न्यायालय से कोई संबंध नहीं है और जिनकी शुद्धि के लिये धर्म-व्यवस्था देनेवालों का आश्रय लेना पड़ता है। प्राचीन काल में ऐसे अपराध भी राज्य से दंडनीय समझे जाते थे। अस्तु, जो कुछ भी हो अपराधों की शुद्धि किसी न किसी प्रकार से होनी आवश्यक है। चाहे वह राजकीय दंड से हो, चाहे प्रायश्चित्त द्वारा हो, चाहे पश्चात्ताप अथवा क्षमा से। अब तीनों प्रकार की शुद्धियों का थोड़ा बहुत वर्णन कर देना आवश्यक है।

राजा के लिये दम अर्थात् दंड देना धर्म बतलाया गया है। रघुवंश में श्रीरामचंद्रजी के पूर्वजों की गुण-गणना करते हुए महाकवि कालिदास ने उनको 'यथापराधदण्डानाम्' का विशेषण दिया है। गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है, 'दण्डो दमयतामस्मि'। नीति में भी कहा है—

अदण्ड्यान् दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशं महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥*

दंड से, जिसकी इतनी महिमा है, क्या लाभ है, अथवा वह किस लक्ष्य से दिया जाता है? योरोपीय आईन विज्ञान (Jurisprudence) वेत्ताओं ने दंड के कई लक्ष्य बतलाए हैं। कुछ लोगों का यह विचार है कि दंड बदला लेने के अर्थ है, अर्थात् व्यक्ति की ओर से समाज दोषी से बदला लेता है। दूसरी कल्पना यह है कि दोषी को दंड देकर उसे पाप कर्म में प्रवृत्त न होने देना ही दंड का मुख्य लक्षण है। तीसरी कल्पना यह है कि दंड के भय से लोग बुरे काम करने से बचे रहते हैं। चौथी कल्पना जिसे कि आजकल के बहुत से

* निरपराधियों को दंड देनेवाला और अपराधियों को छोड़ देनेवाला राजा अपयश ही का पात्र नहीं होता वरन् नरक को प्राप्त होता है।

लोग मानते हैं, यह है कि दंड पापी के सुधार के लिये दिया जाता है। हमारे स्मृतिकारों ने प्रायः सब ही कल्पनाएँ मान ली हैं। वास्तव में सबका मानना ठीक भी है। समाज की स्थिति में ये सब उद्देश्य आ जाते हैं। मनु महाराज ने नीचे के श्लोकों में दंड का उद्देश्य बतलाया है—

दंडः शास्ति प्रजाः सर्वा दंड एवाभिरक्षति ।
दंडः सुप्तेषु जागर्ति दंडं धर्मं विदुर्बुधाः ॥
यदि न प्रणयेद्राजा दंडं दंड्येष्वतंद्रितः ।
शूले मत्स्यानि वा भक्षन् दुर्बलान्बलवत्तराः ॥
सर्वो दंडजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दंडस्य हि भयात्सर्वं जगत् भोगाय कल्पते ॥
दुष्येयुः सर्व वर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दंडस्य विभ्रमात् ॥—मनु ।

दंड सब प्रजा को नियमित रखता है और दंड से ही सब प्रजा नियमित रहती है। सोते हुओं में दंड ही जागता है और दंड लोगों को धर्म में प्रवृत्त कराता है। इसी लिये विद्वानों ने दंड को धर्म कहा है। यदि राजा आलस्य छोड़ कर लोगों को दंड न देवे तो बलवान् लोग दुर्बलों को इस तरह से खा जायँगे, जैसे कांटे में मछली भेद कर खा जाते हैं। सब लोग दंड के वश में हैं। ऐसे शुद्धात्मा लोग दुर्लभ हैं, जो धर्म का पालन दंड के भय से नहीं करते (वरन् आत्मतुष्टि के ही अर्थ करते हैं); दंड के भय से ही सारा संसार अपने कमाए हुए धन का निर्विवाद भोग कर सकता है। दंड के अभाव से सब वर्णों के लोग (अपना यथोचित धर्म पालन न करने के कारण) दूषित हो जाते हैं। सब शास्त्रों के नियम नष्ट हो जायँगे और सर्व लोक में उपद्रव की अग्नि धधकने लगेगी।

उपर्युक्त श्लोकों के देखने से ज्ञात होता है कि मनु महाराज ने समाज की स्थिति, प्रजा को नियम में बांधना और स्वस्थानोचित धर्म में चलाना ही दंड का मुख्य लक्षण माना है।

दोष-शुद्धि के लिये दूसरा उपाय प्रायश्चित्त बतलाया है। प्रायश्चित्त प्रायः उन्हीं अपराधों का होता है, जो विशेष कर धर्म के उस अंग से, जिसे आचार कहते हैं, संबंध रखते हैं। यह एक प्रकार का दंड तथा मानसिक पश्चात्ताप है। पश्चात्ताप भी दोष-शुद्धि का मुख्य उपाय माना गया है। इससे दोषी को क्षमा मिल जाती है। पाप का दंड देना जब न्याय्य माना गया है, तब क्षमा कैसी ? दंड तो केवल इसी लिये दिया जाता है, कि अपराधी का सुधार हो जाय और वह फिर आगे अपराध न करे। यदि वही आशय बिना दंड के ही सिद्ध हो जाय, तो दंड की क्या आवश्यकता? कभी कभी ऐसा होता है, कि क्षमा से जो अपराध की शुद्धि होती है, वह दंड से नहीं।

यद्यपि इन विषयों का कर्तव्य-शास्त्र से कोई संबंध नहीं, तथापि इन बातों को ग्रंथ के अंत में बतला देना नितांत असंगत नहीं होगा। कर्तव्य-शास्त्र विवेचनात्मक है और उसका विषय भले बुरे का परिणाम निश्चित करना है। इस बात को मानते हुए भी यह अवश्य कहना पड़ेगा कि विवेचना के साथ क्रिया भी लगी हुई है। भाव के साथ अभाव लगा हुआ है, कर्तव्य के साथ अकर्तव्य लगा हुआ है, साधारण के साथ विशेष लगा हुआ है। इसी न्याय से कर्तव्य को बतलाते हुए कर्तव्य संबंधी रोग और उनकी चिकित्सा बता देना संगत ही समझा जायगा।

दूसरा परिशिष्ट

सुख।

संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं, जो सुख से अपरिचित हो। फिर भी 'अति परिचयादवज्ञा भवति' न्याय से कोई अपने सुख का लक्षण नहीं बतला सकता। विषय-तत्परता भी एक सुख है और इंद्रिय-दमन भी सुख की संज्ञा में है। शारीरिक परिश्रमजन्य स्वेद से नहाया हुआ मनुष्य भी अपने को कर्तव्य-परायण समझ सुखी होता है, और भोग विलास में पड़ा हुआ मनुष्य कर्तव्य को तिलांजलि देता हुआ अपने सुख में ब्रम्हानंद को भी तुच्छ समझता है। संसार-सागर की तरल-तरंगों और भ्रमरों में चक्कर खाता हुआ मनुष्य भी अपने को सुखी समझता है और नीरव एवं निर्जन बन में आसन जमाए बैठा हुआ योगी भी संसार के विषयों को हेय समझता हुआ परमानंद में लीन होता है। ऐसी स्थिति में सुख की परिभाषा देना बड़ा ही कठिन है।

जगत् में सुख का रूप चाहे जो कुछ भी हो, उस पर हम ध्यान देते हुए, उसके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन विभाग करेंगे। ये विभाग हमारे शास्त्र-सम्मत भी हैं। इन्हीं को सात्विक, राजस और तामस गुण-विभेद से कहा है। अब स्थूल रीति से इन तीनों पर विचार करते हैं।

आधिभौतिक पंचभूतात्मक शरीर ही को सर्वस्व समझ कर उसकी तुष्टि-पुष्टि के अर्थ जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनके सफलता-जन्य सुख को ही आधिभौतिक सुख कहते हैं। देह

को ही आत्मा समझनेवाले हमारे देश में चार्वाक और यूनान में सिरैनिक और ऐपीक्यूरियन आधिभौतिक सुख का ही वर्णन करते हैं। भोजन, मैथुन, निद्रा, प्रमाद, ये सभी इस सुख के रूप हैं। विषयों द्वारा जो इंद्रियों पर आकर्षण होता है, जिससे कि इंद्रियाँ विषयों में मिल कर सुख की बुद्धि उत्पन्न करती हैं, वह सब सुख आधिभौतिक कोटि का ही है। शुद्ध आधिभौतिक सुख में भूले हुए मनुष्यों के विचार पंचमहाभूतात्मक प्रकृति के आगे नहीं बढ़ते। निरा आधिभौतिक सुख किसी भी सहृदय मनुष्य को संतुष्ट नहीं कर सकता। इस कारण यह सुख क्षणिक है और वर्तमान में ऐसा संकुचित रहता है कि उसमें आशा और स्मृति को भी स्थान नहीं मिलता। फिर यह सुख व्यक्तिगत है। इसका सबसे अच्छा प्रमाण यह है कि भौतिक सुखेच्छुक व्यक्तिवाद से ऊँचे नहीं जा सके, और जो इससे ऊँचे गए हैं, उनको भौतिक सुख त्याग कर एक प्रकार के आधिदैविक सुख में प्रवेश करना पड़ा है। यह सुख विशेष कर वाह्य पदार्थों पर निर्भर है। इसी कारण यह सार्वजनिक नहीं हो सकता। जो अर्थवान् पुरुष हैं, वे ही इसका भली भांति अनुभव कर सकते हैं और स्व-सुख-संपादन में दूसरों को कष्ट देते हैं; दूसरे नहीं। इन न्यूनताओं के कारण यह वास्तविक सुख के लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

आधिदैविक।

इन न्यूनताओं को कुछ कुछ आधिदैविक सुख ने दूर किया है। इस सुख के प्राप्त करने के लिये जीव को केवल ऐंद्रिक सुख का तिरस्कार कर बाहर से भीतर की ओर देखना पड़ता है। यह सुख मन से संबंध रखता है। अधिदैव का अर्थ गीता में भी यही किया है 'पुरुषश्चाऽधि-

दवतम्' जीव-दृष्टि से जिन सुखों को हम भोगते हैं, उनका उदय हमारे मन और बुद्धि से ही होता है, और उनका संबंध जीव की स्वतंत्रता, कल्पनादि मानसिक शक्तियों से संबंध रखता है। यह नहीं कि आधिदैविक अवस्था में आधिभौतिक सुख रहते ही न हों, किंतु वे सब सुख वर्तमान रहते हुए आधिदैविक में मिल जाते हैं। इतना भेद अवश्य है कि आधिभौतिक सुख देह-दृष्टि से देखे जाते हैं और आधि-दैविक जीव-दृष्टि से। इस कारण इस दूसरे प्रकार के सुख की व्याप्ति कुछ बढ़ जाती है। जिस परोपकार को आधि-भौतिक दृष्टि में कुछ भी स्थान न था उसे आधिदैविक सुख में एक उत्तम स्थान मिल जाता है। सामाजिक सुख भी सार्थक दीखने लगते हैं। काल्पनिक सुख वर्तमान सुख से ऊँचा जाने लगता है। उत्साह और आशा की उमंगें उठने लगती हैं। कर्तव्याकर्तव्य की ओर ध्यान दौड़ने लगता है। जीव मह-त्वाकांक्षा में पड़कर सब प्रतिबंधों के ऊपर विजय-लाभ करने का प्रयत्न करने लगता है, श्रद्धा और विश्वास को अपने हृदय में स्थान देकर ईश्वरोपासना द्वारा अपनी संपुटित संभावनाओं का विकाश देखने लगता है। इस अवस्था में आधिभौतिक सुख की संकुचितता अधिकांश में दूर हो जाती है, किंतु जीव का पूर्ण संकोच आध्यात्मिक वाद में ही आकर दूर होता है।

आध्यात्मिक।

ज्यों ज्यों नानात्व और पृथकत्व की संकुचित बुद्धि घटती है, त्यों त्यों हम में आत्म-भाव का विकाश होने लगता है और हम सारे संसार को एकही आत्मा का विकाश [illegible] लगते हैं। जैसे नानात्व की धारणा होने से [illegible] में राग द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है, अपने पर[illegible]

विचार दृढ़ हो जाता है, उसी प्रकार सब प्राणियों में एक अव्यय आत्मा को देखने पर ऐक्य बुद्धि के प्रभाव से अद्रोह, शांति, सर्वभूतानुकंपा, बंधुत्व आदि सद्गुणों का विकाश होता है। जो काम कि कर्त्तव्य दृष्टि से कठिनता के साथ किए जाते थे, वेही कार्य सुगमता के साथ पूरे होने लगते हैं। कर्तव्य अप्रिय नहीं रहता। परार्थ और स्वार्थ में भेद नहीं रहता। जो आनंद स्वार्थ-सिद्धि में होता है वही परार्थ-साधन में होता है। सब का सुख अपना सुख हो जाता है और उसी अंश में हमारे सुख की मात्रा बढ़ जाती है। संसार हमारा कुटुंब बन जाता है और जो सुख कि हमको आत्मीय जनों से मिलने से होता है, वही सुख हमें क्षण प्रति क्षण सब जगत् को आत्मदृष्टि से देखने में होता रहता है। इस आत्मैक्य रूपी ज्ञान को हमें अपनी क्रियाओं द्वारा दृढ़तम बनाना चाहिए। जब हम प्राणी मात्र के साथ समता का व्यवहार करेंगे, तब हमारा ज्ञान क्यों न दृढ़ता को प्राप्त होगा। उस ज्ञान से जो आनंद हमें प्राप्त होगा वही योगवासिष्ठ में प्रतिपादित अनंत-समतानंद, जिसका कि उल्लेख हमने नवें अध्याय के अंत में किया है, हमारे कर्तव्य का मधुरतम फल होगा। उसी आनंद में हमको उस उच्च, पवित्र आध्यात्मिक जीवन के, जिसके कि हम एक तुच्छ व्यंजन हैं, आनंद की झलक मिल जायगी।

तीसरा परिशिष्ट

कर्त्तव्य-विकास ।

कर्तव्य में अपवाद के लिये स्थान नहीं तथापि सब लोगों के लिये सब काल और दशाओं में एक सा कर्तव्य नहीं हो सकता है। सत्य ऐसे व्यापक धर्म में भी लोगों को संदेह के लिये स्थान रहता है। यदि डाक्टर रोगी को उसकी वास्तविक अवस्था बतला देवे तो शायद उसको सत्य के पुण्य के बदले मानव हत्या का अपराध अपने सर पर लेना पड़े। किसी दशा में निरंकुशता ही श्रेय समझी जाती है और किसी में दया। यदि हम सभ्य जातियों के परिमाण से असभ्य जातियों के आचार पर दृष्टि डालें तो हम उनको 'मनुष्य भी नहीं कह सकते हैं। पूर्व काल में धर्म के नाम से जितने अत्याचार हुए हैं आजकल उतने अत्याचार आर्थिक लाभ के मंद उद्देश्य से भी नहीं किए जा सकते हैं। जो रोमन केथोलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाई लोग आज परस्पर प्रेम के साथ राजनैतिक और औद्योगिक कार्य्यों में साथ साथ काम करते हैं उन्हीं के पूर्वज एक दूसरे को जीवित जला देना धर्म समझते थे। हमारे देश में भी संप्रदायों के झगड़े बने रहे हैं और अब भी अवशेष नहीं हुए हैं। गुलामी की प्रथा प्रायः सारे संसार से उठ गई है किंतु ऐसी बहुत कम जातियां हैं जो इस दोष से मुक्त रही हों। जिस काल में गुलामी की प्रथा जारी थी उस काल के नैतिक परिमाण के लिये क्या कहा

कर्त्तव्य का सापेक्षत्व

जावेगा। क्या हम उन लोगों को अपने परिमाण से नीचा न समझेंगे। पहले जमाने में लोग अपनी मान मर्य्यादा रखने के लिये जरा सी बात पर मल्लयुद्ध (Duel) करने को तैयार हो जाते थे और एक दूसरे की हत्या करना बुरा नहीं समझते थे। हमारे देश में परस्त्री के साथ संभाषण करना निंद्य समझा जाता है किंतु यूरोपीय देशों में परस्त्रियों के साथ नृत्य करना भी सामाजिक व्यवहार और शिष्टाचार में शामिल है। इन सब बातों को देख बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है और लोग कहने लगते हैं कि कर्तव्याकर्तव्य केवल सामाजिक सुभीता है और वास्तव में कर्तव्याकर्तव्य का कोई परिमाण नहीं। क्या यह स्थिति ठीक है।

सापेक्षत्व में निरपेक्षत्व

यदि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भेद वास्तव में नहीं है तो कर्त्तव्य हमारे लिये करणीय नहीं और कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य कर्म का नैतिक मूल्य बराबर हो जावेगा; मूल्य बराबर क्या हो जावेगा मूल्य ही न रहेगा। यह बात ठीक है किंतु ऊपर बतलाए हुए भेदों के लिये हम उदासीन नहीं रह सकते। फिर इन भेदों का क्या कारण है। संसार में कोई अचल परिमाण है या नहीं। ये भेद परिमाण के भेद नहीं, ये भेद परिणाम के साधनों में देश काल और सामाजिक उन्नति के भेद से उपस्थित हो जाते हैं। नीच से नीच लोग भी कर्त्तव्य के अटल आदर्श का अपने ज्ञान और बुद्धि के अनुकूल अनुकरण करने का यत्न करते हैं। चोर को भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का थोड़ा बहुत ध्यान रहता ही है। चोर लोग दूसरों की चोरी करें किंतु चोरी के धन बाँटने में उनकी न्याय-बुद्धि का ह्रास नहीं हो जाता। मृच्छकटिक नाटक में शर्विलक चोर

ने कहा है कि मेरी कार्य्याकार्य्य-विचारणी बुद्धि चौर कर्म में भी सदा स्थित रहती है। वह कहता है।

नो मुष्णाम्यवलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां।
विप्रस्व न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम् ॥
धात्र्युत्सङ्गगत हरामि न तथा वालं धनार्थी क्वचित्।
कार्य्याकार्य्यविचारिणी मम मतिश्चौर्य्येऽपि नित्यं स्थिता ॥ *

यह चोर अपने ज्ञान के अनुकूल धर्म से च्युत नहीं होता। यदि इसका ज्ञान और बढ़ा हुआ होता और ब्राह्मण एवं अन्य पुरुषों के धन में भेद न समझता तो शायद चोरी भी न करता। आत्मसंयम उसमें था किंतु उसके ज्ञान की कमी के कारण अथवा कामांध होने के कारण उसके आत्मसंयम की मात्रा परिमाण से कम रही। यही नियम प्रायः सब ही अवस्थाओं के धर्मभेदों से लगता है। जैसे जैसे ज्ञान का विस्तार होता जाता है वैसे ही वैसे कर्त्तव्य का भी विकाश होता जाता है अथवा यों कह लीजिए कि कर्त्तव्य के परिमाण की ऊँचाई ज्ञान के विस्तार पर निर्भर है। जैसा आत्मा संबंधी ज्ञान विस्तृत होगा वैसा ही कर्त्तव्य का परिमाण रहेगा। आत्मा में विस्तार का स्वाभाविक गुण है। हम सदा अपने से ऊँचे जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो कर्त्तव्य का विकाश ही न होता। जैसे जैसे आत्मा का विकाश वा विस्तार होता जाता है वैसे ही वैसे हमारे कर्त्तव्य संबंधी विचार ऊँचे होते जाते हैं। जहां अविद्या के कारण आत्मा का विस्तार

---

* अर्थ—मैं धनार्थी हूं लेकिन कभी भी मैं फूली हुई लता के समान विभूषणवती अबला के आभूषण नहीं उतारता, ब्राह्मण का धन नहीं लेता और न यज्ञ के निमित्त रक्खे हुए स्वर्ण तथा धाय की गोद में गए हुए बालक को भी नहीं चुराता, चौर कर्म में भी मेरी कार्य्याकार्य्य विचारणी बुद्धि सदा मेरे साथ रहती है।

घर के घेरे से बाहर नहीं जाता वहां कर्त्तव्यशास्त्र का परिमाण भी स्वार्थवाद से ऊँचा नहीं जाता, किंतु दोनों ही अवस्थाओं में कर्त्तव्य का परिमाण आत्मप्रतीति रहा। कर्त्तव्य का आदर्श एक ही रहता है, उसकी पूर्ति के कई दर्जे रहते हैं।

कर्तव्य के सापेक्षत्व मे उत्तरदायित्व। नेताओं का कर्तव्य

अब प्रश्न यह है कि जब सब लोग अपने ज्ञान के अनुकूल ही अपने कर्तव्य के परिमाण को ऊँचा नीचा रखते हैं तब कोई किसी कार्य्य के लिये दोषी क्यों ठहराया जाय। इस बात में बहुत कुछ सत्य है और इसी के आधार पर अपराधी के साथ सहृदयता का व्यवहार करना बतलाया गया है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई अकर्तव्य कर्म करने के लिये दोषी न ठहराया जाय। बहुत से लोग तो सुपठित और ज्ञानवान होने के कारण अपना आदर्श बहुत ऊँचा रखते हैं किंतु वे लोग अपने आदर्श की ओर मुँह भी नहीं करते। उपदेश देने के लिये तो वे देवगुरु बृहस्पति के भी गुरुदेव बन जाते हैं और कर्म करने में नीच से नीच कर्म करते हुए लज्जा को नहीं प्राप्त होते। ऐसे साक्षर राक्षसों के लिये मनुष्य जाति की घृणा बहुत ही बढ़ जाती है। जितना उतरदायित्व एक ज्ञानवान सुपठित पुरुष का होता है उतना साधारण पुरुष का नहीं होता, किंतु साधारण लोग भी अपने कर्तव्यपालन के भार से नहीं छूट सकते। समाज में रहकर समाज से लाभ उठाते हुए समाज़ के स्थापित किए हुए नियमों का न पालन करना बड़ा अन्याय है। समाज के साधारण कर्तव्य से सब ही थोड़े बहुत परचित रहते हैं और जो लोग उससे अनभिज्ञ हैं उसके लिये वे ही दोषी हैं। जिस आदर्श तक कि समाज के लोग नहीं पहुँच सके हैं उसके पूरा

न करने के लिये कोई व्यक्ति उत्तरदायी नहीं। किंतु यदि किसी व्यक्ति का आदर्श उसके ज्ञान के विस्तार के कारण समाज के आदर्श से ऊँचा हो जाय तो वह केवल अपने सुभीते के लिये समाज के नीचे आदर्श के अनकूल आचरण नहीं कर सकता। धार्मिक नेता वा उद्धारक लोगों की यही विशेषता होती है कि वे वर्तमान में रह कर भविष्य को देख लेते हैं। नेता के पीछे चल कर सारी समाज भी उस उच्च आदर्श को देखने लग जाती है। बड़े आदमियों का उत्तरदायित्व बहु बड़ा होता है। यदि वे किसी प्रकार की उदासीनता वा संकल्प-शिथिलता के कारण समाज को अपने विस्तृत ज्ञान का लाभ न दें तो वे दोष के भागी हैं। जैसा आचरण श्रेष्ठ जनों का होता है वैसा ही साधारण लोगों का होता है। नेता को अपने उपदेश का पालन पहले आप ही करना पड़ेगा। यह नहीं हो सकता कि बाँबी में हाथ तू डाल और मंत्र मैं पढ़ूं। मंत्र के साथ बाँबी में भी हाथ स्वयं ही डालना होगा। इसके साथ नेता का यह भी धर्म है कि वह समाज की अज्ञानता वा अपने ज्ञानविस्तार के कारण समाज को नीचा न देखने लगे। नेता समाज से बाहर नहीं। यदि उसको समाज का आधार न मिलता तो वह किसके सहारे अपने उच्च आदर्श को देख सकता। नेता की योग्यता समाज के अनकूल ही हुआ करती है। असभ्य जातियों के धार्मिक नेता का आदर्श उच्च-शिक्षा-प्राप्त समाज के नेता के आदर्श से तुलना नहीं पा सकता है। नेता की समाज के ऊपर निर्भरता का यह सब से बड़ा प्रमाण है। वास्तव में जो बातें कि समाज में गुप्त रीति से वर्तमान होती हैं वे नेता द्वारा पूर्ण प्रकाश को प्राप्त होती हैं। यदि ऐसा न होता तो नेता की सुनता ही

कौन। नेता समाज का मुख है। समाज में कर्तव्य का विकास इसी प्रकार से होता रहता है। समाज के ज्ञान की वृद्धि क्रमशः होती रहती है। इससे समाज की गति का झुकाव बदलता रहता है। समाज के झुकाव को देख कर नेता उस ओर आगे बढ़ पेश्तर से समाज को उस पथ के गुण-दोष बतला देता है। समाज उसी पथ पर चल कर अपने विकास को प्राप्त होती है।

कर्तव्य-विकास के कई कारण बतलाए गए हैं। कोई कोई कहते हैं कि जीवन-संग्राम (struggle for existence) कर्तव्य-विकास का कारण है और कोई कहते हैं कि आर्थिक उन्नति कर्तव्य संबंन्धी उन्नति का मूल कारण है। ये सब बातें कर्तव्य-विकास में योग देती हैं किंतु वे विकास का कारण नहीं। विस्तार का कारण है आत्मा की विस्तारोन्मुखी वृत्ति। आत्मा अपने से ऊँची जाने का यत्न करती है। इसी में सारे विज्ञान और कर्तव्यशास्त्र का मूल है। जो लोग यह कहते हैं कि कर्तव्य का उदय परस्पर के सुभीते में है वे लोग इस बात को भूल जाते हैं कि सुभीते को चाहना, संघर्षण को कम करने की इच्छा करना, समाज को स्थित रखने की अभिलाषा, इन सब बातों का मूल आत्मा में ही है। जीवन-संग्राम द्वारा मनुष्य जाति में धैर्य, सहानुभूति आदि उच्चतम गुणों का विकास हो जाय किंतु जीवन-संग्राम इन गुणों का कारण नहीं। जब तक आत्मा में स्वयं ये गुण वर्तमान न हों तब तक इनकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। जीवन-संग्राम इन गुणों के विकास का अवसर है, कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार आर्थिक उन्नति भी कर्तव्य-विकास का अवसर है, कारण नहीं। आत्मा

विकास के कारण

ही आत्मा की उन्नति का कारण है। आत्मा का उद्धार भी आत्मा से ही हो सकता है।

क्या संसार उन्नति की ओर जा रहा है।

यह बात तो मान ली जायगी कि समय के भेद से कर्तव्य में भी भेद पड़ता है। भारतवर्ष में भी युग भेद से धर्म माना है, जो स्मृति सत्युग के लिये प्रमाणित है वह कलयुग में नहीं मान्य है। स्मृतियों का युग के हिसाब से इस प्रकार विवरण दिया है—

कृते तु मानवो धर्म्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः ।
द्वापरे शङ्खलिखितौ कलौ पाराशरः स्मृतः ॥

सत्युग में मनु प्रमाणित है, त्रेता में गौतम, तथा द्वापर में शङ्ख लिखित और कलयुग में पाराशर प्रमाणित है। ये सब बातें समयानुकूल कर्तव्य की सापेक्षता बतलाती हैं किंतु हमारे देश और यूरोपीय देशों में विकास के विषय में मतभेद है। यूरोपीय देशों में विकाश का क्रम उन्नति की ओर माना जाता है और हमारे देश में अवनति की ओर माना गया है। हमारे यहां कर्तव्य का आदर्श जो सत्युग में था सो कलयुग में नहीं। लिखा है कि—

कृते सम्भाषणात् पापं त्रेतायाञ्च दर्शनात् ।
द्वापरे चान्नमादाय कलौ पतति कर्मणा ॥
अभिगम्य कृते दानं त्रेता स्वाहूय दीयते ।
द्वापरे याचमानाय सेवया दीयते कलौ ॥

सत् युग में सम्भाषण से पाप होता है, त्रेता में देखने से, द्वापर में अन्न लेने से और कलियुग में कर्म से मनुष्य पतित होता है। सत्युग में जाकर दान देते हैं; त्रेता में बुला कर देते हैं,

द्वापर में माँगनेवाले को देते हैं और कलियुग में सेवा करने-वाले को देते हैं। जहाँ कहीं वर्णन आया है वहाँ पर कलियुग में धर्म का ह्रास ही लिखा है। अब प्रश्न यह है कि संसार का क्रम उन्नति की ओर जा रहा है अथवा अवनति की ओर। हमारे देश में संसार का क्रम जो अवनति की ओर माना है उसका एक बड़ा कारण है। हमारे यहाँ कर्त्तव्य के आदर्शों का विकास नहीं माना है वरन् पूर्व से ही वेदों और स्मृतियों में दिया हुआ माना है। यह बात किसी अंश तक ठीक भी है। हम लोग अपूर्ण हैं, हमको पूर्ण कर्त्तव्य का आदर्श किसी पूर्ण से ही मिलना चाहिए और वह पूर्ण पुरुष परमात्मा है। इसके साथ यह प्रश्न अवश्य है कि वह ज्ञान एक साथ मिल गया अथवा क्रमशः। हमारे देश में यह माना गया है कि यह आदर्श हमको पहले ही से वेदों में मिल गया। जब जब समाज की संकीर्णता के कारण धर्म का ह्रास हो जाता है और जब लोग पहले के दिए हुए समाज के उच्चतम आदर्श का पालन करने में असमर्थ हो जाते हैं तब ही समयानुकूल कर्त्तव्य परि-माण नीचा कर दिया जाता है। यदि विचार कर के देखा जाय तो इसमें बहुत कुछ सार है। समाज के विकास में संकी-र्णता बढ़ती जाती है। कार्य्यविभाग से भेद हो जाता है और उस भेद में संगठन बढ़ता जाता है। यही स्पेंसर साहिब का विकाश संबंधी विचार है। यह विकाश का नियम सब ही समाजों, क्या पूर्वीय और क्या पश्चिमीय में, चरितार्थ होता है, किंतु प्रश्न यह है कि संकीर्णता और भेद में संगठन वास्तव में धर्म का वर्धक होता है या नहीं।

इस प्रकार का विकास धर्म का सहायक हो या न हो किंतु इसमें अधर्म के लिये बहुत स्थान है। यूरोप में धनिक

(Capitalists) और श्रमी (Labourers) के झगड़े समाज के विकास का फल हैं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि विकास में विभाग और संगठन की मात्रा बराबर ही रहे। भारतवर्ष में जातियों के विभाग का कोई अंत नहीं, किंतु इस विभाग में संगठन की झलक बहुत कम दिखाई पड़ती है। उन्नति और अवनति काल का विषय नहीं। सत्-युग में हिरण्यकश्यप सा राक्षस हुआ। त्रेता में रावण हुआ और द्वापर में कंस हुआ। कलियुग में बड़े प्रतापी और सत्य-वादी हो गए हैं। यह बात ठीक है, किंतु वर्तमान भारतवर्ष में और बातों की उन्नति होते हुए पहले की अपेक्षा धर्म और कर्त्तव्य का ह्रास ही दिखाई पड़ता है। वास्तव में बात यह है, कि समाज के विकास में यदि मनुष्य सचेत न रहे तो उन्नति के साथ थोड़ी बहुत अवनति अवश्य होती जायगी और वह अवनति इकट्ठी होकर घोर रूप धारण कर लेती है। प्राकृ-तिक विकास और सामाजिक विकास में भेद है। प्राकृतिक विकास में विकास को प्राप्त होनेवाले जीवों की स्वतंत्रता कम रहती है और सामाजिक विकास में मनुष्य ही विकास के नेता हो जाते हैं। हम यदि तृण के समान पानी के बहाव पर निर्भर रहें तो हमारी गति का कुछ ठिकाना नहीं, जिधर की हवा चली उधर ही के हो रहे। कलियुग का कारण केवल काल पर निर्भर रहना है। कलियुग और सत्युग में बहुत अंतर नहीं। कलियुग के बाद ही सत्-युग होता है। हम अपने उद्योग से सत्युग को शीघ्र ही बुला सकते हैं। यदि सत्युग द्वापर और त्रेता में धर्म के ह्रास की संभावना हो सकती थी और ह्रास के बाद विकास हुआ तो कलियुग में धर्म के विकास की आशा करना अनुचित नहीं।

पिछले अधिकरणों में जो कर्त्तव्यविकास का क्रम दिया है वह हर समय लागू हो सकता है। जब कर्त्तव्य का विकास होगा तो ज्ञान का विस्तार उसका पूर्वगामी होगा। समाज की संकीर्णता के कारण हमारे आत्मैकज्ञान का वृत्त संकुचित सा दिखाई पड़ता है। इस संकोच का कारण हम ही हैं। हम समाज की संकीर्णता मात्र को ही विकास समझते रहे और अपने विकास की गति स्थित करने में उदासीनता दिखाते रहे। हमारी निष्क्रियता के कारण जो वर्षों की काई जम रही है वह हमारे ज्ञान के विस्तार एवं क्रियोन्मुख होने से दूर हो जायगी और हम ज्ञानोद्दीपित कृतयुग के शुभ्रोज्वल कर्मक्षेत्र में प्रवेश करेंगे।

———

चौथा परिशिष्ट

कर्तव्य संबंधी साहित्य।

हिंदू, बौद्ध तथा जैन-ग्रंथ।

१. श्रीमद्भगवद्गीता शंकरभाष्य सहित।
२. बाल गंगाधर तिलककृत गीतारहस्य।
३. महाभारत शांतिपर्व।
४. योगवशिष्ठ मुमुक्षुप्रकरण।
५. मनुस्मृति।
६. याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षरा)।
७. शुक्रनीति।
८. विदुरनीति।
९. कामंदकीय नीतिसार।
१०. भर्तृहरि का नीतिशतक।
११. चाणक्यनीति।
१२. कठोपनिषत्।
१३. जैमिनिसूत्र।
१४. धम्मपद।
15. Hindu System of Moral Science – Kishori Lal Sircar M. A. B. L.
16. Relativiy of Hindu Ethiecs.
17. Advanced text book of Hinduism – Mrs. Besant.
18. Arya Dharma – A. Dharmapala.

19. Buddhism and Science—Paul Dahlkie.
20. Buddhistic Essays— „ „
21. The Ethical Problem—Dr. Paul Carus.
22. Practical Path—C. R Jain.
23. A Study of Jainism—Kannoomal M. A.

EARLY GREEK WRITERS.

1. Plato's Republic with Jowett's Introduction and lectures by Richard Lewis Nettleship.
2 Aristotle—Nicomachean Ethics

INTUITIONAL.

1. Butler, Bishop Joseph—Sermons (1726) Dessertation on Virtue (1729). (Both in Butler's Analogy & Sermons, Bohn's Library.
2. Stewart Dugald—Outlines of moral philosophy (1793)
3. Martineau, James—Types of Ethical Theory 2 Vol. 1885.
4. Moores, G. E,—Principia, Ethica 1903.

EGOISTIC HEDONISM.

1. Hobbes, Thos.—Elementa Philosophioe de cive (1642), De carpore Politico; or the Elements of Law, moral and political (1650), Leviathan (1681) Morley's Library 1885.
2. Mandeville, Bernardde—The fable of the Bees (1714).

UTILITARIANISM.

1. Locke, John—Essay concerning the Human Understanding, Book I (1868.)
2. Hume, David—Treatise on Human Nature Books 2 & 3 (1739-40), Enquiry conerning the principles of morals (1751). Works Green & Grose 4 vols. 1882. Essays. Library moral and Political (1742) 1875.
3. Bentham Jeremy—Introduction to the principles of morals and legislation (1789) 1876.
4. Mill, James—Analysis of the human mind chaps. XVII, XXIII. (1829) 1878.
5. Bain, Alexander—Mental and moral science (1868).
6. Mill, John Stuart—Utilitarianism (1863).
7. Hodgson-shadworth, H.—Theory of practice. 2 vols.
8. Sidgwick, Henry—Methods of Ethics (1874).

EVOLUTIONARY ETHICS.

1. Darwin, Charles—Descent of man (1871) 1883
2. Spencer, Herbert—Data of Ethics (1879) 1887
3. Stephen, Leslie—Science of Ethics 1882.
4. Alexander Samuel—Moral Order & Progress (1889)
5. Huxley, T. H.—Evolution and Ethics.

IDEALISTS.

1. Bradley, F. H.—Ethical Studies 1876. Appearance and Reality 1893.

2. Green, T. H.—Prolegomena to Ethics (1883) 1881.
3. Sorley, W. R.—Ethics of Naturalism 2nd Ed. 1904.
4. Muirhead, S. H.—Elements of ethics
5. Mackenzie, J. S.,-Introduction to Social Philosophy, 2nd Ed. 1895. Manual of Ethics 1893.
6. Seth, J.—Ethical Principles 10th Ed. 1908.
7. Wundt, W.—Ethics. English Trans. 1897.
8. Bosanquet, B.-Psychology of the moral self 189
9. Taylor, A. E.—Problem of conduct. 1901.
10. Jones, H.,—Idealism as a practical creed. 1909
11. Dewiey and Tuft—Ethics 1909.
12. Kant. Kant's Theory of Ethics. Abott-Critical-philosophy of Kant, Caird-Philosophy of Kant Watson—Philosophy of Kant explained.

HISTORY.

1. Sidgwick. H.,—Outlines of the history of Ethics (1886) 1888.
2. Albice, E.,—History of English Utilitarianism 1902.

GENERAL.

1. Lotze, H.,—Practical philosophy 1890.
2. Sutherland, A., The origin and growth of moral instinct. 1898.
3. Schiller, F. C. S.—Humanism. 1903.

4. Stewart.,J. A.,-Art, Ethics Encyelo. Brit, 1902.
5 Ladd, G. T.,—Philosophy of conduct. 1904
6. Dickinson, G. Lowes —The meaning of the good. 3rd Ed. 1906.
7. Hobhouse., L. T.,-Morals in Evolution. 1906.
8. Wrester, Mark E.,—Theo rigin and development of moral ideas. 1908.
9. B. Croce–Philosophy of the practical. Translated by Douglas Ainslie 1913.
10. William James—The will to believe 1897.
11. International Journal of Ethics Dr. Hasting's Encyclopaedia of Religion and Ethics.

म्युरहेड साहब की पुस्तक में दी हुई साहित्य-सूची के आधार पर यह साहित्य-सूची तैयार की गई है।

पाँचवाँ परिशिष्ट।

शब्द-सूची।

(अ)

(आ)

(च)

(छ)

(ज)

(ड)

(त)

(थ)

(द)

(ध)

(न)

(प)

(ब)

(भ)

(म)

[व]

[श]

(स)

(ह)

(क्ष)

(ज्ञ)

नोट—इस शब्द-सूची में भूमिका और परिशिष्टों के शब्द सम्मिलित नहीं हैं।